परमेष्ठि नमस्कार

श्री नवकार महामंत्र

॥ नमो अरिहंताणं ॥
॥ नमो सिद्धाणं ॥
॥ नमो आयरियाणं ॥
॥ नमो उवज्झायाणं ॥
॥ नमो लोए सव्वसाहूणं ॥
एसो पंच नमुक्कारो
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवइ मंगलं

–: गुजराती–लेखक :–
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.

–: हिन्दी–संपादक :–
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

परमेष्ठि-नमस्कार

卐 गुजराती-लेखक 卐

व्याख्यान वाचस्पति परम शासन प्रभावक
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी
सूक्ष्म तत्त्व चिंतक पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर**
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

卐 हिन्दी-संपादक 卐

मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

237

卐 **प्रकाशन** 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 8484848451 (only whatsapp)

हिन्दी आवृत्ति : तृतीय • **मूल्य :** 180/- रुपये • **प्रतियाँ :** 1000
दि. 3-9-2023 • **विमोचन स्थल :** मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू. जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

बीसवीं सदी के महान् योगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक-चिंतक एवं अनुप्रेक्षक, निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद भावाचार्य तुल्य **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** द्वारा गुजराती में आलेखित और उन्हीं के चरम शिष्यरत्न मरुधररत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित एवं संपादित 237वीं **'परमेष्टि-नमस्कार'** पुस्तक का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है । नवकार महामंत्र के उच्च साधक एवं अनुप्रेक्षक के रूप में पूज्य पंन्यासजी महाराज खूब प्रसिद्ध हैं ।

नमस्कार महामंत्र के ऊपर उनका विपुल साहित्य प्रकाशित हुआ है । उनके समग्र जीवन में साधना का केन्द्र बिंदु **'नवकार'** ही था ।

चौदह पूर्वधर महर्षि भी अपने अंतिम समय में नवकार का ध्यान व स्मरण करते हैं । उस 'नवकार' को ही केन्द्रित करके पूज्य पंन्यासजी महाराज ने अपने जीवन में चिंतन-मनन किया था ।

पूज्यश्री के अंतिम शिष्य के रूप में प्रख्यात पूज्य आचार्य श्री रत्नसेनसूरिजी महाराज, पूज्यश्री के विपुल गुजराती साहित्य का हिन्दी रूपांतर कर उसे प्रकाशित करवा रहे हैं ।

'परमेष्टि नमस्कार' की गुजराती भाषा में अनेक आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं । वर्षों पूर्व इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रो. सोहनलालजी पटनी ने किया था ।

उसी अनुवाद को पुनः परिमार्जित कर पूज्य मु. श्री रत्नसेनविजयजी म. (वर्तमान में आचार्य श्री रत्नसेनसूरिजी म.) ने वि.सं. 2045 में स्वाध्याय संघ-मद्रास से प्रकाशित किया था । वे नकलें अप्राप्य हो चुकी हैं ।

पूज्य पंन्यासजी महाराज के नवकार-विषयक साहित्य के पुनः प्रकाशन की माँग को ध्यान में रखते हुए आज उसी प्रकाशन की तृतीय आवृत्ति का प्रकाशन हो रहा है । इसे पढ़कर हिन्दी भाषी प्रजाजन अवश्य लाभान्वित होंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ ।

परमोपकारी पू. पंन्यासजी महाराज

लेखक : पू. आचार्यदेव श्रीमद् कलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.

पूज्य पंन्यासजी श्री भद्रंकरविजयजी महाराज वर्तमान युग के एक प्रभावक महापुरुष थे । महापुरुषों के द्वारा विरचित ग्रन्थ, उनके आध्यात्मिक जीवन और संयमपुष्ट ज्ञानदशा के निर्मल प्रतिबिंब हैं । उनके द्वारा आलेखित अमूल्य पुस्तकों से हम समझ सकते हैं कि उनके जीवन में नमस्कार महामंत्र, मैत्र्यादि भाव, कृतज्ञता, परोपकार, विनय, औचित्यपालन आदि गुण तथा मंत्रजाप, ध्यान, योग, विनय, औचित्यपालन आदि गुण तथा मंत्रजाप, ध्यान, योग, समाधि आदि योग कितने आत्मसात् थे, उसका सहज ख्याल आ जाता है ।

सागर सम गंभीर महापुरुष कभी भी अपने मुख से अपना परिचय नहीं देते हैं, परन्तु उनकी विशुद्ध दिनचर्या, लिखने-बोलने की विशिष्ट शैली, अद्‌भुत चिंतन-प्रसादी, अच्छे-बुरे या अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग में चित्त की समतुला, अखंड प्रसन्नता, प्रत्येक व्यक्ति के साथ उचित व्यवहार-पालन आदि जीवन का अपूर्व वैविध्य ही उनके विशाल गुणवैभव का अल्प परिचय कराता है ।

उन्होंने `नमस्कार-महामंत्र' के माध्यम से कृतज्ञता और परोपकार आदि प्रारंभिक गुणों के विकास की अद्‌भुत कला की स्वानुभव से सिद्धि की थी, इस बात को उनके शब्दों में ही देखें–

'नवकार मंत्र में कृतज्ञता और परोपकार, व्यवहार और निश्चय, अध्यात्म और योग, ध्यान और समाधि, दान और पूजन, शुभ विकल्प और निर्विकल्प,

योगारंभ और योगसिद्धि, सत्त्वशुद्धि और सत्त्वार्पितता, पुरुषार्थ और सिद्धि, सेवक और सेव्य, करुणापात्र और करुणावंत आदि साधना की समस्त सामग्री रही हुई है । भक्ति, ज्ञान और क्रिया का सुंदर सुमेल होने से आत्मशक्ति के विकास के लिए परिपूर्ण सामर्थ्य नवकार में रहा हुआ है । इस कारण शास्त्र में कहा है–

'एसो अणाइ कालो, अणाइ जीवो य अणाइ जिणधम्मो ।

तइयावि ते पढंता, एसुच्चिय जिण नमुक्कारो ।'

'काल अनादि है, जीव अनादि है, और जिनधर्म भी अनादि है, अतः नमस्कार महामंत्र भी अनादिकाल से पढ़ने में आ रहा है और वह पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले का अनंत कल्याण करेगा ।'

`पंचसूत्र' और `चउसरण पयन्ना' में वर्णित चतुःशरण गमन, दुष्कृत गर्हा और सुकृतानुमोदना, इन तीन विषयों पर उन्होंने खूब चिंतन-मनन किया था । जीवन में धर्म-आराधना और योग-साधना को जीवंत करने के लिए वे, आवश्यक शुद्धि के लिए इन तीन तत्त्वों पर अत्यंत भार देते थे । इन तीन तत्त्वों के रहस्यों को, नमस्कार-महामंत्र की अर्थभावना के रूप में समझाते हुए लिखते हैं–

'परार्थवृत्ति और कृतज्ञता गुण द्वारा दुष्कृत-गर्हा और सुकृतानुमोदन रूप भव्यत्व परिपाक के दो उपायों का सेवन होता है और तीसरा उपाय शरणगमन है ।

शरणगमन अर्थात् जो परार्थभाव और कृतज्ञता गुण के स्वामी हैं, उन्हीं को अपना एक आदर्श मानना, उन्हीं के सत्कार, सम्मान, आदर और बहुमान को

अपना कर्तव्य समझना । परार्थभाव और कृतज्ञता गुण के सच्चे अर्थी जीवों में, इन दो भावों को प्राप्त परमात्मा की शरणागति, भक्तिपूजा और बहुमान सहज होता है । यह शरणागति, परार्थभाव और कृतज्ञता गुण को सानुबंध बनाती है । वीर्य में वृद्धि करती है, उत्साह पैदा करती है और उनकी तरह जब तक पूर्णता प्राप्त न हो तब तक साधना में विकास होता रहता है–उसी को अनुग्रह कहते हैं । आलंबन के आदर से होनेवाले प्रत्यक्ष लाभ को ही शास्त्रकार अरिहंतादि का अनुग्रह कहते हैं ।'

परार्थ भाव और कृतज्ञता को आत्मसात् बनाकर अरिहंतादि की पूर्ण शरणागति द्वारा, उनके परम अनुग्रह को प्राप्त कर आत्मस्वरूप की अनुभूति की उच्चतम भूमिका उन्होंने प्राप्त की थी । यह बात उनके निम्नांकित चिंतन से समझ सकते हैं–

`अरिहंतादि चार का अवलंबन ही आत्म-स्वरूप के बोध का कारण है, जिसका आलंबन लेकर आत्मा आगे बढ़ती है । उनका उपकार हृदय में न बसे तो फिर पतन होता है । परार्थवृत्ति रूप दुष्कृतगर्हा, कृतज्ञता गुण के पालन स्वरूप सुकृत अनुमोदना, और उन गुणों की सिद्धि को प्राप्त महापुरुषों की शरणागति–ये तीनों गुण मिलकर जीवात्मा की मुक्तिगमन की योग्यता को विकसित करते हैं और भव-भ्रमण की शक्ति का क्षय करते हैं । सच्ची दुष्कृत गर्हा और सुकृतानुमोदना, दुष्कृतरहित और सुकृतवान तत्त्वों की भक्ति के साथ जुड़ी होती है । इसी कारण उनकी भक्ति को ही मुक्ति की दूती कहा है ।'

उपर्युक्त तीन साधनों के सतत आसेवन से भूमिका शुद्धिपूर्वक होनेवाला विकास, जीवन में क्रमशः ध्यान

शक्ति को विकसित करता है, यह बात वे अपने अनुभव सिद्ध प्रयोग द्वारा कहते हैं–

'शुद्ध स्वरूप को प्राप्त अरिहंतादि का ध्यान ही निज शुद्धात्मा का ध्यान है । ध्यान द्वारा ध्याता ध्येय के साथ एकता का अनुभव करता है, वही समापत्ति है और वह समापत्ति-समाधि ही कर्मक्षय का असाधारण कारण है । अपनी आत्मा भी निश्चय की अपेक्षा द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत और सिद्ध समान है । अतः सिद्ध परमात्मा का द्रव्य, गुण और पर्याय से होनेवाला ध्यान अपनी ही शुद्धात्मा के ध्यान का कारण बनता है । अंतःकरण रूप समुद्र जब संकल्प-विकल्प रूप तरंगों से रहित बनता है, तभी उसमें अरिहंतादि के शुद्धात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है ।

अंतःकरण को निर्मल और निर्विकार बनानेवाला दुष्कृतगर्हा और सुकृतानुमोदन का शुभ परिणाम है और उसमें शुद्धात्मा का प्रतिबिंब डालनेवाला अरिहंतादि का स्मरण और शरण है । स्मरण ध्यानादि से होता है और शरणगमन, आज्ञा पालन के अध्यवसाय से होता है । आज्ञापालन का अध्यवसाय निर्विकल्प समाधि उत्पन्न करता है, उसी को शुद्धात्मा के साथ, एकता की अनुभूति कहते हैं । इस प्रकार दुष्कृत गर्हा, सुकृत अनुमोदना और शरण गमन, साक्षात् निर्विकल्प समाधि स्वरूप अनुभूति का कारण बनता है ।'

'आणाए धम्मो' इस सूत्र को उन्होंने जीवन में जीकर बताया था । अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रत्येक परिस्थिति में अपनी इच्छा को भी भी आगे नहीं करते थे । देव और गुरु की पवित्र आज्ञा का सापेक्ष विचार-विमर्शपूर्वक उसके अनुसरण में ही धर्म समझते थे ।

`आज्ञा' पदार्थ क्या है ? इस विषय में निम्नोक्त चिंतन, उनमें रहे हुए अपूर्व आज्ञापालन के अध्यवसाय का दर्शन कराता है ।

`आज्ञा' पदार्थ आप्त-वचन है, आप्त यथार्थ वक्ता है । यथार्थ वक्ता के द्वारा कहा गया यथार्थ वचन, श्राव्य पदार्थ है ।

आस्त्रव हेय हैं, क्योंकि स्व-पर पीड़ाकारक हैं । संवर उपादेय हैं, क्योंकि स्व-पर हितकारक है । निदिध्यासन-पदार्थ ऐदंपर्य बताता है । आज्ञा का ऐदंपर्य आत्मा है । आस्त्रव की हेयता और संवर की उपादेयता का ज्ञान जिसे होता है, वह आत्मा ही `आज्ञा' स्वरूप है । प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप आज्ञा हेयोपादेयार्थक है और वह आज्ञा का व्यावहारिक अर्थ है । आज्ञा का नैश्चयिक अर्थ स्वरुप-रमणता है । स्वरूप-रमणता ही परमार्थ शरणभूत है ।

नमस्कार का व्यावहारिक अर्थ आस्त्रव-त्याग और संवर सेवन का बहुमान है । नमस्कार का पारमार्थिक अर्थ आस्त्रव का त्याग करनेवाली और संवर का सेवन करनेवाली विशुद्ध आत्मा है । विशुद्ध आत्मा ज्ञायक स्वरूप है । `ज्ञ' स्वभाववाले आत्मा में परिणमन नमस्कार का ऐदंपर्यार्थ है और वही आत्मसाक्षात्कार का अनंतर कारण है ।'

जैनशासन में महामंत्र नवकार का स्थान-मान हमेशा सर्वप्रधान रहा है । शास्त्रकारों ने उसकी अपरंपार महिमा बताई है । उसका अपने जीवन में अनुभव करनेवाले और अनेक को इस मंत्र के दान द्वारा उसकी श्रद्धा, भक्ति और धर्मभावना को परिपुष्ट बनानेवाले पूज्य पंन्यासजी महाराज ने नवकार महामंत्र के सतत स्मरण-चिंतन और ध्यान

द्वारा उसकी सिद्धि प्राप्त की थी । इस बात की साक्षी उन्हीं के शब्दों से ज्ञात होती है ।

`नमो' मंत्र सब प्राणों का उत्क्रमण करता है । अर्थात् `नमो' मंत्र के उच्चारण मात्र से प्राणों का ऊर्ध्वीकरण होता है । दूसरे शब्दों में `नमो' मंत्र सर्व प्राणों को परमात्मतत्त्व में परिणत करता है । अमनस्कत्व और उन्मनी भाव की अवस्था `नमो' मंत्र के पुनः स्मरण से उत्पन्न होती है । कहा भी है–`विप्रतीपं मनो नमः ।' `नमो' मन की विशुद्ध दशा में गति कराता है । इस प्रकार नमो मंत्र के जाप द्वारा मनसातीत अवस्था सरलता से प्राप्त हो सकती है । पूर्णता यह शून्यता का सर्जन है । `नमो' मंत्र में शून्यता छुपी हुई है ।

'द्रव्यादिक चिंताण सार, शुक्ल ध्यान पण लहीए पार ।
ते माटे तेहि ज आदरो, सद्गुरु विण मत भूला फरो ।'

द्रव्य-गुण और पर्याय के चिंतन से शुक्लध्यान भी सिद्ध हो सकता है, अतः द्रव्यानुयोग के अभ्यास के लिए गीतार्थ सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए । सद्गुरु की निश्रा बिना मार्ग भूल जाते हैं, ध्यान मार्ग से भ्रष्ट बन जाते हैं । पूज्य पंन्यासजी महाराज में पूज्य महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज की उपर्युक्त बात को ध्यान में रखकर 'द्रव्यादि' के चिंतन-मनन और ध्यान में विशेष प्रगति सिद्ध की थी, उसकी प्रतीति हमें उनके मार्मिक चिंतन से भी हो सकती है–

`द्रव्य से होनेवाला आत्मध्यान ध्याता के शुभ भाव की वृद्धि करता है, जैसे दूध में शक्कर । गुण से होनेवाला आत्मध्यान एकत्व करता है अर्थात् गुण से गुण मिलने पर एकता का अनुभव होता है । जैसे-दूध और शक्कर की मिठास ।

पर्याय से होनेवाला आत्मध्यान तुल्यता करता है । जैसे मधुर दूध का तृप्ति रूप कार्य । तुल्यता, एकता और वृद्धि जब समकाल मिलती है, तब समता स्थिर बनती है ।

स्थिर समता, अनंत द्रव्यों की समानता, गुणों की एकता और पर्यायों की तुल्यता के ज्ञान पर अवलंबित है । ध्यान में जब परमेष्ठियों के शुद्ध आत्मद्रव्य के साथ, अपना आत्मद्रव्य मिलता है, तब वृद्धि का अनुभव होता है । उनके गुणों के साथ अपने गुण मिलते हैं, तब एकता का अनुभव होता है और जब उनके पर्यायों के साथ अपने पर्याय मिलते हैं, तब तुल्यता का अनुभव होता है । इस प्रकार तुल्यता, एकता और वृद्धि का अनुभव विषमता का नाश करता है और समता को उत्पन्न करता है ।'

पूज्य पंन्यासजी महाराज की पिछले कुछ समय से विशेष शारीरिक अस्वस्थता रहती थी, उसमें भी उनकी आंतरिक समता-समाधि अखंड रूप से टिकी रही थी । शारीरिक पीड़ा के समय भी उनकी आंतरिक जागृति और मन में चलती तत्त्व की अनुप्रेक्षा का ख्याल बाह्य दृष्टि से देखनेवाले को न भी आए और उनकी आंतरिक साधना से अपरिचित व्यक्ति द्विधा में भी पड़े हों कि 'नमस्कार महामंत्र के ऐसे अनन्य साधक पुरुष को ऐसी वेदना क्यों ?'

इसका जवाब है कि वेदना, आपत्ति और उपद्रव तो कर्मजनित हैं । अशुभ कर्म के उदय समय ज्ञानी पुरुषों की कैसी मनोदशा, ध्यान धारा और सहिष्णुता होती है, उसका ख्याल, उस प्रकार की उच्च भूमिका वाले को ही आ सकता है । अपनी बीमारी अवस्था में अपने ही हाथों से लिखे गए पत्र का

कुछ भाग उन्हीं के शब्दों में लिखता हूँ । इससे उनकी आंतरिक जागृति और विचारधारा का ख्याल आ जाएगा–

'शास्त्रकार भगवंतों ने रोग को परिषह कहा है, और उसे समतापूर्वक सहन करना भी एक प्रकार की संवर की साधना है, आपने अंतिम पत्र में विस्तार से ध्यान की प्रक्रिया लिखी, 'इस प्रकार आगे भी जब स्फुरणा हो तब लिखने का चालू रखना, उसके विशेष चिंतन-मनन से जो स्फुरित होगा, वह आगे लिखूंगा, अभी तो भेदज्ञान के लिए 'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र के मनन को मुख्य बनाया है । 'शरीर के धर्म और आत्मा के धर्म भिन्न हैं ।' ऐसे अनुभवात्मक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस सूत्र से बहुत कुछ प्राप्त होता है ।'

पूज्य पंन्यासजी महाराज के शुभ समागम से मुझे जो लाभ हुआ है, वह अनन्य है । शब्दों में उसका वर्णन शक्य नहीं है, उनकी (पूज्यश्री की) मंगल प्रेरणा और अंतर भावना के अनुसार जीवन जीने के लिए, उनके मेरु समान उपकार के यत्किंचित् ऋण को अदा करने का सदा सौभाग्य प्राप्त होता रहे, इसी शुभकामना के साथ उन परोपकारी आराध्य के चरण-कमल में भावभीनी वंदना अर्पित करते हुए धन्यता का अनुभव करता हूँ ।

(कल्याण, अप्रेल 1981 से साभार)

लेखक की कलम से...

'परमेष्ठि नमस्कार' पुस्तक में नमस्कार सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण विचारों का संग्रह है । **पंच परमेष्ठि-नमस्कार** श्री जैन शासन का अनमोल रत्न है । घर में आग लगने पर बुद्धिमान मनुष्य अन्य सभी वस्तुओं का त्यागकर समस्त आपत्तियों को पार लगाने में समर्थ एक ही महारत्न को ग्रहण करता है, वैसे ही शास्त्रानुसार धीर बुद्धिवाले एवं उत्तम लेश्यावाले सात्त्विक पुरुष सर्वनाश के समय अनन्य शरण्य द्वादशांगी के रहस्यभूत एक ही परमेष्ठि नमस्कार रूप महारत्न को ग्रहण करते हैं ।

परमेष्ठि नमस्कार रूप भावरत्न का मूल्य समझना बहुत कठिन है । इसको समझने के लिए जितना विचार किया जाय एवं लिखा जाय उतना कम है । केवल शब्दों एवं विचारों से ही उसका मूल्यांकन करना दुष्कर है । इसका मूल्य समझने के लिए शास्त्रकार भगवन्तों को भी उपमाओं एवं रूपकों का आश्रय लेना पड़ा है ।

पाप रूपी पर्वत को भेदने के लिए वज्रसमान, कर्म रूपी वन को जलाने के लिए दावानल समान, दुःख रूपी बादलों को बिखेरने के लिए प्रचण्ड पवन समान, मोह रूपी दावानल को शान्त करने के लिए नवीन मेघ समान, अज्ञानरूपी अंधकार को टालने के लिए मध्याह्न के सूर्य समान, कल्याणरूपी कल्पवेली के लिए अवन्ध्य बीज समान, दारिद्र रूपी कंद को जड़मूल से उखाड़ने के लिए वराह की दाढ़ समान, सम्यक्त्व रूपी रत्न को उत्पन्न होने के लिए रोहणाचल की धरती समान आदि अनेक उपमाओं द्वारा शास्त्रकारों ने **परमेष्ठि नमस्कार** की प्रशंसा की है । यहाँ उसे पहिचानने का प्रयास किया गया है । श्री नवकार फल प्रकरण में कहा है कि:–

किं एस महारयणं, किं वा चिंतामणिव्व नवकारो ।
किं कप्पदुमसरिसो, न हु न हु ताणं वि अहिययरो ।।1।।

अर्थ :– क्या परमेष्ठि नमस्कार महारत्न है ? अथवा यह चिंतामणि रत्न के समान है ? अथवा कल्पवृक्ष के समान है ? नहीं नहीं, यह तो सर्वोपरि है । चिन्तामणिरत्न एवं कल्पतरु आदि एक ही जन्म में सुख प्रदान कर सकते हैं परंतु श्रेष्ठ परमेष्ठि नमस्कार तो स्वर्गापवर्ग को भी प्रदान करने वाला है ।

रूपकों एवं उपमाओं द्वारा परमेष्ठि नमस्कार की महिमा कुछ अंश में बुद्धिगम्य होती है तो भी उसकी खरी महिमा समझने के लिए एकमात्र साधन उसकी विधियुक्त अखण्ड आराधना है । श्री महानिशीथ सूत्र में उस विधि को बताते हुए कहा है कि:–

तिविहकरणोवउत्तो, खणे-खणे सीलसंजमुज्जुत्तो ।
अविराहिअवयनियमो, सो वि हु अइरेण सिज्झेज्जा ।।1।।

अर्थ : तीनों करणों से उपयोग युक्त बन, प्रति क्षण शील एवं संयम में उद्यमशील रहकर तथा व्रत एवं नियमों का अखण्ड पालन कर जो तीर्थंकरों का नाम-ग्रहण करता है वह जीव अल्पकाल में ही सिद्धगति प्राप्त कर लेता है ।

परमेष्ठि नमस्कार का विशुद्ध प्रभाव उसकी साधना से प्राप्त होता है । फिर भी उस साधना में उत्साहित होने के लिए उसके शाब्दिक परिचय की आवश्यकता रहती है । उस हेतु उपमाओं, रूपकों एवं अलंकारों की भी आवश्यकता रहती है । ये समस्त वस्तुएँ विचारशक्ति को प्रेरित करती हैं । शास्त्रों में उसे अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय नाम से निर्दिष्ट किया है ।

अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय को रत्नशोधक अनल की उपमा दी गई है । रत्न को प्राप्त अग्नि जिस प्रकार रत्न के मल को भस्मीभूत कर उसे शुद्ध कर देती है, वैसे ही आत्मरत्न को प्राप्त अनुप्रेक्षा रूपी अग्नि कर्ममल को भस्म कर आत्मशुद्धि को पैदा करती है । अनुप्रेक्षा विचार स्वरूप है । दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत पदार्थों पर पुनः पुनः विचार-चिन्तन करने का नाम ही अनुप्रेक्षा है । इससे ज्ञान परिपक्व होता है एवं प्रतीति दृढ़ होती है । प्रतीतियुक्त दृढ़ ज्ञान संवेग एवं वैराग्य की वृद्धि करता है । एवं चित्तवृत्ति को कैवल्य तथा मोक्ष की ओर अभिमुख करता है ।

'परमेष्ठि नमस्कार' की इस अनुप्रेक्षा में सभी गुण हैं। इससे भी अधिक कुतर्कों से उत्पन्न हुए मिथ्याविचारों को भगा देने का सामर्थ्य भी इसमें है। अतः इसके पठन, पाठन, श्रवण, मनन, प्रतिपत्ति एवं स्वीकार आदि में मन लीन होता है, उसके जाप, ध्यान आदि में प्रवृत्ति होती है, परिणामस्वरूप स्थिरता आती है एवं सिद्धि मिलती है।

सिद्धि हेतु स्थिरता चाहिए, स्थिरता के लिए प्रवृत्ति चाहिए एवं प्रवृत्ति हेतु इच्छा की आवश्यकता है। इस इच्छा को पैदा करने का सामर्थ्य अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय में है। एक ही तथ्य का पुनःपुनः शास्त्रानुसारी विचार करने से कुतर्कों का बल घट जाता है तथा इच्छा एवं प्रवृत्ति में प्रतिबंधक कुविकल्प शांत हो जाते हैं।

परमेष्ठि-नमस्कार के मूल में 'गुणराग' रहा है। गुणराग गुणहीन जीवों की उन्नति में मुख्य हेतु है। जब तक जीव सदोष हैं तब तक दोषों से मुक्त होने के लिए उनकी पुनःपुनः निन्दा एवं गर्हा करना आवश्यक है।

वैसे ही जब तक जीवों में गुणों का अभाव है तब तक गुणों की प्राप्ति हेतु गुणस्तुति एवं गुणप्रशंसा करना उतना ही जरूरी है। दोषों के सेवन में शास्त्रकार महर्षियों ने जो प्रायश्चित्त बताया है उससे भी अधिक दोषों का सेवन करने के पश्चात् उनकी निंदा, गर्हा, आलोचना अथवा प्रायश्चित्त नहीं करनेवाले के दोष बढ़ते जाते हैं एवं ये दोष अनंत गुने हो जाते हैं। यही नियम गुणों के विषय में भी लागू पड़ता है।

जीवन में किसी गुण का नहीं होना, उतना दोषयुक्त नहीं है जितना कि स्वयं के गुणहीन होने पर भी गुणवान की स्तुति या प्रशंसा, विनय अथवा भक्ति नहीं करने में दुष्टता-दोषपात्रता है। इस कारण दोष के प्रतिक्रमण की भाँति, गुणों की स्तुति को भी शास्त्रकारों ने एक आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में बताया है।

गुण-स्तुति के बिना निर्गुणता-निवारण का दूसरा कोई उपाय शास्त्रकारों ने देखा नहीं। जब तक जीव गुणस्तुति के मार्ग पर अग्रसर नहीं होता है तब तक निर्गुण अवस्था में से मुक्ति मिलने की आशा आकाश-कुसुमवत् होती है।

'परमेष्ठि नमस्कार' गुण-स्तुति रूप है । गुणवान की ही स्तुति होती है । पंच परमेष्ठी परम गुणवान हैं अतः उनकी स्तुति रूप **'परमेष्ठि नमस्कार'** उत्कृष्ट मंत्र रूप बनता है । सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवन्त श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज देवता की की गई स्तुति को ही विशिष्ट मंत्ररूप कहते हैं :–

जपः सन्मंत्र-विषयः स चोक्तो देवतास्तवः ।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद्विषापहरणं यथा ।।1।।

अर्थ :– जिस प्रकार उस प्रकार के मंत्रों से विषापहार होता है वैसे ही देवता की स्तुति रूप सन्मत्रों से पाप का अपहार होता है ।

(योगबिन्दु, श्लोक 381)

`परमेष्ठि नमस्कार' तीनों कालों एवं तीनों लोकों में हुए, हो रहे एवं भविष्य में होने वाले महर्षियों को प्रणाम स्वरूप होने से परम स्तुति रूप हैं, अतः मंत्र रूप भी हैं । उससे सभी पापों का नाश होता है । इतना ही नहीं उससे सभी काल के एवं लोक के सभी महर्षियों का अनुग्रह प्राप्त होता है । साथ ही उनके प्रति परम भक्ति भाव को धारण करने वाले चारों निकायों के देव एवं देवेन्द्र, असुर एवं असुरेन्द्र, विद्याधर एवं नरेन्द्रों का भी अनुग्रह प्राप्त होता है । इससे पाँचों प्रकार के भूत एवं सचराचर सृष्टि अनुकूल बनती है । गुणस्तुति का यह उत्कृष्ट फल है । गुणराग के प्रभाव का वर्णन करते हुए सकलसिद्धांतविद् महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं:–

``गुणी च गुणरागी च, गुणद्वेषी च साधुषु ।
श्रूयन्ते व्यक्तमुत्कृष्टमध्यमाधमबुद्धयः ।।1।।
ते च चारित्रसम्यक्त्वमिथ्यादर्शनभूमयः ।
अतो द्वयोः प्रकृत्यैव, वर्तितव्यं यथाबलम् ।।2।।

अर्थ :– गुणी, गुणरागी एवं गुण द्वेषी, तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं । शास्त्रों में उन्हें अनुक्रम से उत्कृष्ट, मध्यम एवं अधम बुद्धिवाला कहा गया है । वे क्रमशः चारित्र, सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व की भूमिका पर आधारित हैं । अतः प्रथम दो भूमिकाओं के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील रहना चाहिए । (1-2)

गुणी स्वयं चारित्रवान होता है, अतः उत्कृष्ट होता है । गुणरागी सम्यक्त्वशील होता है, अतः मध्यम है । गुणद्वेषी मिथ्यादृष्टि होता है अतः अधम होता है । अपने में अधमता न आ जाय इसलिए भले ही हम गुणवान न बन सकें, पर गुणानुरागी तो होना ही चाहिए ।

गुणानुरागी आत्मा गुणवान न होते हुए भी गुणस्तुति एवं गुणप्रशंसा के योग से सम्यक्त्वशील हो सकती है । परमेष्ठि-नमस्कार, गुणस्तुति एवं गुणानुराग रूप होने से सम्यक्त्व की भूमिका को टिकाकर रखने वाला है । अतः वह प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीव के लिए आधार है, प्राण है, आशय है एवं परम आलम्बन है । स्तुतिकार श्री सिद्धसेनदिवाकर-सूरीश्वरजी एक स्थान पर कहते हैं कि:–

त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः ।
प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्वं तत्त्वं मतिर्गति ।।1।।

अर्थ :- हे भगवान् ! तू मेरे लिए उत्कृष्ट माता, पिता, नेता, देव, धर्म, गुरु, प्राण, स्वर्ग, अपवर्ग, सत्त्व, तत्त्व, मति एवं गति है ।।1।।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिए गुणानुराग ही मुख्य वस्तु है । उसके बिना इसका आन्तर जीवन / अन्तरात्मभाव क्षणमात्र भी टिक नहीं सकता । **'परमेष्ठि नमस्कार'** गुणराग एवं गुण स्तुति रूप होने से सभी लोकों में स्थित सभी सम्यग्दृष्टि आत्माओं का श्वास है । सम्यग्दृष्टि आत्माएँ उसे श्वास की भाँति कंठ में धारण करती हैं । सम्यक्त्व को टिका कर रखने हेतु उसकी अनिवार्यता है ।

आत्मा के त्रिविध लक्षण बताते हुए श्री **'अध्यात्मसार'** प्रकरण के **'योगानुभव अधिकार'** में कहा गया है कि:–

विषयकषायावेशः, तत्त्वाऽश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः ।
आत्माऽज्ञानं च सदा, बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्त ।।1।।

अर्थ :– विषय-कषाय, गुण-द्वेष एवं आत्म-तत्त्व की अश्रद्धा, गुण-द्वेष एवं आत्मा का अज्ञान ही बहिरात्मभाव के लक्षण हैं । इससे निश्चित होता है कि गुण-द्वेष टले बिना बहिरात्मभाव जाता

नहीं है । अन्तरात्मभाव की अवस्था में सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद एवं श्रेणी का आरोहण अंतर्भूत होता है । क्षपक-श्रेणी के अन्त में परमात्मभाव प्राप्त होता है । केवलज्ञान, योगनिरोध, कर्मनाश एवं सिद्धिनिवास परमात्मभाव के लक्षण हैं । इस प्रकार गुणराग परमात्मभाव का बीज बन जाता है ।

'परमेष्ठि नमस्कार' गुणराग का प्रतीक है । यदि गुणराग न भी हो तो भी वह इससे उत्पन्न हो जाता है एवं यदि हो तो बढ़ता है । अन्तरात्म-भाव को लाने वाला, उसे टिकाने वाला, बढ़ाने वाला एवं अन्त में परमात्मभाव तक पहुँचाने वाला **'परमेष्ठि नमस्कार'** है । अतः मार्गानुसारी जीवों की भूमिका से लेकर सर्व सम्यग्दृष्टि देशविरति एवं सर्व-विरतिधर जीवों का **'परमेष्ठि नमस्कार'** परम आवश्यक कर्त्तव्य बन जाता है । यह धर्म के प्रारंभ से अन्त तक प्रत्येक धर्मार्थी आत्मा की उन्नति में परम सहायक होता है; अतः पू. उपाध्यायजी महाराज ने कहा है :–

सवि मंत्रमां सारो, भाख्यो श्री नवकार;
कह्या न जाय रे अेहना, जेह छे बहु उपकार ।।1।।

अर्थ :– श्री नवकार सर्वमंत्रों में सारभूत है । इसके उपकार इतने अधिक हैं कि उनका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है ।

यह मानकर कि इस पर जितना अधिक विमर्श हो, जितनी अधिक अनुप्रेक्षा हो उतना ही अधिक हितकर है । अलग-अलग प्रसंगों में परमेष्ठि नमस्कार पर अलग-अलग जो विचार स्फुरित हुए उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है । जिन जिन ग्रन्थों, साहित्य अथवा निबंधों के अध्ययन से मुझे लिखने में प्रेरणा प्राप्त हुई है उन सभी ग्रंथकारों एवं लेखकों के प्रति कृतज्ञता भाव प्रकट करता हूँ । इस पुस्तक में जो कुछ सिद्धान्त के प्रतिकूल लिखा गया हो उसके लिए **'मिच्छा मि दुक्कडं'** कहकर इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ ।

नवाडीसा (गुजरात)
विक्रम संवत् 2014, श्रावण सुदी-1

पं. भद्रंकरविजय गणि

संपादक की कलम से...

वस्तु मात्र में परिवर्तन लाना
नई वस्तु को पुरानी बनाना-काल का
मुख्य स्वभाव है ।
इस छोटी सी जिंदगी में
नित नई और इतनी अधिक घटनाएँ
बनती हैं कि उन सब को
स्मृति के संदूक में सजाकर रखना
कठिन हो जाता है ।
और इसीलिए
हम, बहुतसी स्मृतियों को
`स्मृति-पटल' में संजोए रखने के बजाय
हम उन्हें काल के प्रवाह में बहा देते हैं ।

ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ

वर्षाऋतु में वर्षा की जल-बूंदों को पाकर
घास की उत्पत्ति हो जाती है ।
उनके मूल बीज तो जमीन में
पडे ही होते हैं, परंतु निमित्त को पाकर
पुनर्जीवन पा लेते हैं,
बस !
इसी तरह कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं
जिन पर कुछ धुंधलापन आ जाता है
किंतु निमित्त को पाकर
वे पुनः ताजा हो जाती हैं
हाँ !

किंतु इस जीवन-यात्रा में
कुछ घटनाएँ ऐसी ही बनती हैं,
जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता,
जिनकी स्मृतियों को खोने के लिए
मन कभी तैयार नहीं रहता ।
उन स्मृतियों की ताजगी के लिए
न किसी निमित्त आवश्यकता रहती है
और न ही किसी प्रकार के ऊहापोह की ।

ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ

अध्यात्म योगी निःस्पृह शिरोमणि
नमस्कार महामंत्र के सूक्ष्म चिंतक
परमाराध्यपाद गुरुदेव पूज्यपाद
पंन्यास प्रवरश्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री
के शुभ सान्निध्य प्राप्ति के उन पलों को
मैं कभी भी भूल नहीं सकता !
विशाल भाल !
तेजस्वी नेत्र !!
मुख मंडल पर अपूर्व तेज !!!
आजानु बाहु !!!!
गौर वर्ण से युक्त बाह्य संपदा के धनी ऐसे
पूज्यपाद गुरुदेवश्री के मुखारविंद से
जब वाणी का अजस्त्र-स्त्रोत बहता था,
तब ऐसा आभास होता था मानो–
'सरस्वती उनके मुख पर नृत्य कर रही है ।'
'नमस्कार-महामंत्र' तो वह का वही है,
परंतु उस छोटे से गागर से मंत्र में जो
जिनशासन का विराट सागर समाया

गया है, उसको अपने जीवन में
उन्होंने साक्षात् अनुभूति की थी और
उस अनुभूति के स्तर तक पहुँचने के
बाद, जब-जब उनके मुखारविंद से
वाणी का वह स्त्रोत बहता था, तब तब
उस स्त्रोत में आत्म-स्नान करते-करते
परम आनंद की अनुभूति होती थी ।

पूज्यपादश्री की अमृतवाणी

'नमस्कार-महामंत्र' शब्द से अत्यंत ही छोटा है, किंतु वह अर्थ का महासागर है ।

❖ चित्त-शुद्धि पूर्वक किया गया नमस्कार महामंत्र का जाप पाप का नाश और पुण्य की अभिवृद्धि करता है ।

❖ सुख में नमस्कार-महामंत्र का स्मरण करने से **'सुख में अलीनता'** रूप समाधिभाव की प्राप्ति होती है ।

❖ दु:ख में नमस्कार महामंत्र का स्मरण करने से 'दु:ख में अदीनता' रूप समाधिभाव की प्राप्ति होती है ।

❖ मृत्यु समय, नमस्कार-महामंत्र का स्मरण करने से **'देहाध्यास-नाश'** रूप समाधिभाव की प्राप्ति होती है ।

❖ अन्य मंत्रों को सिद्ध करना पडता है, जब कि नमस्कार-महामंत्र स्वयं सिद्धमंत्र है । नमस्कार महामंत्र का विधिपूर्वक जाप करने से जीवन में शांति, मरण में समाधि, परलोक में सद्‌गति और परंपरा से शाश्वत सुख स्वरूप मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ।

❖ नमस्कार-महामंत्र में अचिंत्य शक्ति रही हुई है, परन्तु उसका प्रकटीकरण तो उसके विधि-पूर्वक जाप से ही हो सकता है ।

नमस्कार जाप में उपयोगी मार्गदर्शन :–

❖ नमस्कार महामंत्र का जाप एकाग्रता पूर्वक होना चाहिए ।

❖ जाप के पूर्व देहशुद्धि व आसन स्थिरता जरूरी है ।

❖ माला से यदि जाप करना हो तो हमेशा एक ही माला का उपयोग करना चाहिए ।

❖ जाप में प्लास्टिक की माला का उपयोग नहीं करना चाहिए ।

❖ नमस्कार महामंत्र का जाप पूर्व या उत्तर दिशा की ओर बैठकर करना चाहिए । दक्षिण दिशा सम्मुख बैठकर जाप नहीं करना चाहिए ।

❖ जाप करते समय शरीर को स्थिर रखना चाहिए और अपने नेत्रों को परमात्मा की प्रतिमा, नमस्कार-महामंत्र के फोटो अथवा नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि को स्थिर रखना चाहिए ।

❖ नमस्कार-महामंत्र का जाप अत्यंत ही श्रद्धापूर्वक होना चाहिए । श्रद्धा के अभाव में मंत्र फलीभूत नहीं बनता है ।

❖ जाप के प्रारंभ में वज्रपंजर स्तोत्र से आत्मरक्षा करना उत्तम है । तत्पश्चात् **'शिवमस्तु सर्वजगतः'** की प्रार्थना के द्वारा विश्व के प्राणीमात्र के कल्याण की भावना करनी चाहिए और **'खामेमि सव्व जीवे'** गाथा के द्वारा विश्व के किसी भी प्राणी के साथ हुए वैर-विरोध का विसर्जन करना चाहिए और विश्व के प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभावना से हृदय को भावित करना चाहिए ।

❖ जाप के लिए एक निश्चित समय होना चाहिए । स्थान, समय व आसन की नियमितता से जाप में विशेष आनंद की अनुभूति होती है ।

❖ जाप में मन, वचन और काया की एकता बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए ।

इस प्रकार परमाराध्यपाद पूज्यपाद गुरुदेव **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** ने नमस्कार-महामंत्र की जप-साधना आदि के बारे में बहुत ही सुंदर मार्गदर्शन दिया है ।

चिंतन के अथाह सागर में डुबकी लगाकर प्राप्त किए गए मोतियों की माला अर्थात् **'परमेष्ठि-नमस्कार'** ।

सचमुच, इस पुस्तक में वर्णित पदार्थों के बारे में कुछ भी लिखना यह तो मेरे लिए छोटा मुँह-बड़ी बात ही है ।

ज्यों-ज्यों पाठकगण इस पुस्तक का रसास्वादन करेंगे त्यों- त्यों उन्हें नमस्कार महामंत्र के रहस्यमय अर्थों का पता लगता रहेगा और उनकी श्रद्धा भी दृढीभूत बनती जाएगी ।

पूज्यपाद अध्यात्मयोगी गुरुदेवश्री का मुझ पर जो उपकार है, उस उपकार की ऋण-मुक्ति तो किसी भी प्रकार से संभव नहीं है । फिर भी उस ऋण का पुनःपुनः स्मरण कर उस ऋणमुक्ति के लिए अत्यल्प प्रयास किया गया है ।

शांतिलालजी कांठेड (घाणेराव) आदि की यह भावना और प्रयास रहा है कि अध्यात्मयोगी पूज्यपाद गुरुदेवश्री के समस्त गुर्जर साहित्य का हिन्दी भाषा में सुंदर प्रकाशन हो । स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेवश्री की असीम कृपा से उनकी यह मंगल भावना साकार बनती जा रही है और इसके फलस्वरूप हिन्दी भाषीवर्ग भी पूज्यपाद गुरुदेवश्री की अमृतवाणी का आस्वाद लेने में सक्षम बन रहा है ।

परम पूज्य स्वर्गस्थ अध्यात्मयोगी **गुरुदेवश्री पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** तथा गुरुकृपापात्र विद्वद्वर्य **पू.पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.** की निरंतर बहती कृपा वृष्टि से ही इस कार्य को करने में समर्थ बन सका हूं-उन सब उपकारी पूज्यों के चरणों में मेरी कोटि कोटि वंदना ।

मतिमंदतादि दोषों के कारण यदि कहीं स्खलना रह गई हो तो उसके लिए त्रिविध **मिच्छा मि-दुक्कडम् ।**

महावीर भवन,
निगडी, (पूना)-411 044.
दिनांक 31-7-2023

निवेदक
अध्यात्मयोगी पू.पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री
का कृपाकांक्षी
मुनि रत्नसेनसूरि

पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री के जीवन की संक्षिप्त झाँकी

जन्म	:	मार्गशीर्ष सुद-3, संवत्–1959
जन्म–स्थल	:	फोफलियावाड़ा–पाटण (उ.गु.)
जन्म–नाम	:	भगवानदास
माता का नाम	:	चुन्नीबाई
पिता का नाम	:	हालाभाई मगनभाई
भाई	:	1. वीरचंदभाई 2. लहेरुभाई 3. भोगीलाल
बहन	:	मेनाबहन
व्यावहारिक अभ्यास	:	16 वर्ष में इन्टर
संतान	:	जितेन्द्रभाई
धार्मिक संस्कार	:	माता–पिता सुसंस्कृत होने से सुसंस्कारों का सिंचन। बाल्यवय से प्रभु–पूजा में राग, रात्रि–भोजन, कंदमूल, अभक्ष्य आदि का त्याग।
धार्मिक–अभ्यास	:	छोटी वय से धार्मिक–अभ्यास प्रारम्भ। तीव्र स्मरण शक्ति के कारण 12 वर्ष की छोटी वय में पंच–प्रतिक्रमणादि सूत्र और योगशास्त्र के 4 प्रकाश कण्ठस्थ। 125, 150 व 350 गाथा के स्तवन कण्ठस्थ।
ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार	:	वि.सं. 1984
वैराग्य भावना	:	यौवन के प्रांगण में प्रवेश से ही विरक्तता। तत्कालीन पूज्य मुनिश्री रामविजयजी म.सा. (बाद में आचार्यदेवश्री) के प्रवचन–श्रवण से वैराग्य पुष्टि।
धार्मिक जीवन	:	ज्ञान के साथ क्रिया का सुमेल। `नवपद आराधक समाज' की स्थापना में अग्रेसर। नवपद के परम आराधक। एक बार नियमित छह मास तक आयंबिल किये। संवत् 1980 में अट्ठाई तप की आराधना। वर्धमान तप की 52 ओलियाँ की।

दीक्षा उम्र	:	28 वर्ष
दीक्षा–ग्रहण	:	कार्तिक वद-3, संवत् 1987, भायखला (बम्बई) ।
दीक्षा–दाता	:	सकलागमरहस्यवेदी आचार्यदेव श्री दानसूरीश्वरजी म.सा. ।
गुरुदेवश्री	:	परम पूज्य पंन्यास श्री रामविजयजी गणिवर्य ।
नामकरण	:	मुनिश्री भद्रंकरविजयजी ।
सह–दीक्षित	:	मुनिश्री मलयविजयजी, मुनिश्री वल्लभविजयजी, मुनिश्री हंसविजयजी और मुनिश्री हंससागरजी म. ।
दीक्षा दिन पद प्रदान	:	परम पूज्य अनुयोगाचार्य पंन्यासजी प्रेमविजयजी म. को उपाध्याय पदवी और परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति मुनिश्री रामविजयजी म.सा. को पन्यास पदवी ।
शास्त्र–अध्ययन	:	पूज्य आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म. तथा पूज्य न्यायचार्य उपाध्यायश्री यशोविजयजी म. के अनेकानेक ग्रन्थों का सूक्ष्मता से वाचन, मनन और चिन्तन । षडदर्शन–अध्यात्म और योग के स्वपर–दर्शन के शास्त्रों का गहनता से अभ्यास । आगम–ग्रन्थों और पूर्वाचार्य कृत अनेकानेक ग्रन्थों का गहन–अभ्यास ।
बाह्य व अभ्यन्तर तप	:	वर्धमान तप की 52 ओली । दीक्षा के बाद वर्षों तक नित्य–एकासना । स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग की अपूर्व–साधना ।
अनुप्रेक्षा	:	नमस्कार–महामंत्र, लोगस्स–सूत्र और उवसग्गहरं स्तोत्र के महान् अनुप्रेक्षक ।
चिन्तन	:	नमस्कार महामंत्र, मैत्री आदि भावना, यति–धर्म, अष्ट प्रवचन–माता, मुक्ति और मुक्ति मार्ग आदि विषयों के महान् चिन्तक और लेखक ।
शिष्य आदि परिवार	:	स्वयं के 21 शिष्य, प्रशिष्य–प्रप्रशिष्य : 101 निश्रावर्ती : 19, कुल परिवार : 140 आचार्य : 10, उपाध्याय : 2, पंन्यास : 8, कालधर्म : 62

पंन्यास पदवी	:	महासुद-12, संवत् 2007-पालीताणा ।
विहार क्षेत्र	:	मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़ (सौराष्ट्र), हालार, अहमदाबाद, बम्बई तथा महाराष्ट्र, कर्णाटक के अनेक क्षेत्र आदि ।
शारीरिक–लक्षण	:	सौम्य व प्रशान्त मुख-मुद्रा, विशाल भाल, गौर–वर्ण, लगभग जानुपर्यंत हाथ, मुख पर ब्रह्मचर्य का महान्–तेज लक्षणोपेत आकर्षक और प्रभावक मुख-मुद्रा ।
अशाता का उदय	:	वर्षों से किसी–न–किसी रोग का हमला । पिछले तीन वर्षों में अशाता का तीव्र उदय ।
साधना	:	नमस्कार महामंत्र, नवपद आदि के उत्कृष्ट साधक ।
समाधि	:	अशाता के तीव्रोदय में भी सर्वोच्च समाधि ।
अन्तिम–चातुर्मास	:	स्वगुरुदेव व्याख्यान–वाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के साथ पाटण में ।
दीक्षा पर्याय	:	49½ वर्ष
उम्र	:	77 वर्ष
समाधि–मृत्यु	:	वैशाख सुद-14, सं. 2036 की रात्रि में आठ बजकर दस मिनट । नगीनभाई पौषधशाला–पाटण (उ.गु.) ।
अग्नि संस्कार	:	वैशाख सुदी-15, सं. 2036 भद्रंकर सोसायटी के सामने–पाटण
वर्तमान में पूज्यपादश्री के परिवार का आज्ञा–साम्राज्य	:	1) प्रवचन प्रदीप, गच्छाधिपति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय पुण्यपालसूरि म. 2) समतामूर्ति पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म.
विद्यमान परिवार	:	शिष्य–2, प्रशिष्य–72, निश्रावर्ती–4, कुल–78

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.सं.	क्र.	विषय	पृ.सं.
1.	स्वाध्याय एवं नवकार	1	24.	नमस्कार मंत्र का आह्वान	116
2.	अरिहंत परमात्मा का उपकार	4	25.	साधना का स्वरुप-दर्शन	117
3.	सिद्ध भगवन्तों का उपकार	7	26.	अर्थ पुरुषार्थ की अनर्थकारी	121
4.	आचार्य भगवंत का उपकार	11	27.	काम पुरुषार्थ की कटुता	126
5.	उपाध्याय भगवंत का उपकार	17	28.	धर्म-पुरुषार्थ की प्रधानता	127
6.	साधु भगवंत का उपकार	22	29.	सच्चा सुख	129
7.	श्री नवकार में नौ रस	31	30.	सुख का सच्चा आधार	131
8.	महामंत्र का अपूर्व माहात्म्य	39	31.	धर्म पुरुषार्थ का आदर	134
9.	प्रश्न-उत्तर	45	32.	उपदेश करने योग्य पुरुषार्थ	136
10.	मंत्र जप	56	33.	आत्मा	138
11.	साधक को मार्गदर्शन	58	34.	एकान्त नित्यपक्ष में	139
12.	महामंत्र की लोकोत्तरता	61	35.	एकान्त अनित्यपक्ष	142
13.	महामंत्र की सर्वदर्शिता	67	36.	आत्मा का कर्तृत्व	143
14.	नमस्कार का प्रभाव	69	37.	आत्मा का भोक्तृत्व	147
15.	महामंत्र की कार्यशक्ति	71	38.	जीव और कर्म का सम्बन्ध	151
16.	महामंत्र की व्यापकता	74	39.	जीव और शरीर का सम्बन्ध	152
17.	मनुष्य का स्वभाव–सिद्ध धर्म	82	40.	जैन शासन में निर्दिष्ट साधना-मार्ग	153
18.	महामंत्र की उपादेयता	88	41.	मोक्ष-सम्बन्धी मान्यताएँ	157
19.	आंतरिक–धन श्री नमस्कार	95	42.	मोक्ष का सुख	162
20.	नमस्कार की धारणा	102			
21.	नमस्कार महामंत्र का ध्यान	104			
22.	शुभ–ध्यान के प्रकार	108			
23.	भाव मंगल श्री नवकार	113			

1. स्वाध्याय एवं नवकार

मदिरा, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा–ये पाँच प्रकार के प्रमाद जिस प्रकार आत्मा का अधःपतन कर संसार–सागर में रुलाते हैं, वेसे ही वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा–ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय आत्मा को संसार–सागर से पार उतार कर मुक्ति का अव्याबाध सुख प्रदान करते हैं। यह है स्वाध्याय का विशद स्वरूप। सबसे सरल प्रकृति का अल्पज्ञ भी नमस्कार महामंत्र का स्वाध्याय कर सकता है एवं अवसर पर यह मंत्र द्वादशांगी का भी स्थान ले सकता है।

जैनागम में स्वाध्याय को मोक्ष का परम अंग कहा गया है। प्रत्युपेक्षणा, प्रमार्जना, भिक्षाचर्या, वैयावृत्य आदि संयम के असंख्य व्यापारों में से किसी भी योग में लीन जीव, प्रति समय असंख्य भवों के कर्मों का क्षय करता है, तो भी स्वाध्याय–योग में लीन व्यक्ति, स्थिति एवं रस के द्वारा कर्मों का विशेष रूप से क्षय करता है।

कर्मक्षय के मुख्य दो हेतु हैं। मन, वचन एवं काया के अशुभ व्यापारों का निग्रह एवं इन तीनों योगों का शुभ व्यापारों में प्रवर्तन। ये दोनों हेतु स्वाध्याय–योग में रत होते हुए जिस प्रकार सिद्ध होते हैं, उस प्रकार अन्य व्यापारों की अवस्था में सिद्ध नहीं हो सकते हैं। यह बात केवल आगम से नहीं परंतु युक्ति एवं अनुभव से भी सिद्ध होती है।

जैन शास्त्रो में स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा।

- वाचना यानी गुरु से सूत्र–अर्थ ग्रहण करना।
- संदेह निवारण के लिए पूछने को पृच्छना कहते हैं।
- असंदिग्ध सूत्रार्थ को पुनः–पुनः रटना परिवर्तना है। परिवर्तना को परावर्तना भी कहते हैं।

⚒ तत्त्व का पुनः–पुनः चिंतन अनुप्रेक्षा एवं अनुग्रहबद्धि से योग्य पुरुषों को समझाना, उपदेश अथवा चर्चा करना धर्मकथा है ।

यह पाँचों प्रकार का स्वाध्याय मन–वचन–काया के अशुभ व्यापारों का निरोध करवाकर शुभ कार्य में एकाग्रतापूर्वक प्रवर्तन करवाता है । अतः यह कर्मक्षय का असाधारण हेतु बन कर परंपरा से, परमपद की प्राप्ति करवाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि आदरपूर्वक स्वाध्याय की लीनता यावत् सर्वज्ञ पद एवं तीर्थंकर पद की प्राप्ति का कारण बनती है । पाँचो प्रकार का स्वाध्याय पदार्थों के परमार्थ को प्रदर्शित करने वाला एवं क्षण–क्षण में सद्गति के मूल रूप परम वैराग्य का कारण बनता है ।

चौदह पूर्वधर उत्कृष्ट रूप से स्वाध्याय करते हैं । महाप्राण ध्यान आदि के सामर्थ्य से अन्तर्मुहूर्तकाल में वे चौदह पूर्वों का एवं बारह अंगो का परावर्तन करते हैं ।

दस पूर्वधर दस पूर्वों का स्वाध्याय करते हैं, नौ पूर्वधरों को नौ पूर्वों का एवं इस प्रकार घटते–घटते जिसे दूसरा कुछ भी नहीं आता है, उसे भी पंच परमेष्ठि–नमस्कार का स्वाध्याय होता है, क्योंकि यह पंच परमेष्ठि–नमस्कार, द्वादशांगी का अर्थ है अतः अति महान् है ।

श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार द्वादशांगी का अर्थ होने के तीन कारण हैं–

1. द्वादशांग के स्थान पर उसका उपयोग होता है ।

2. परिणाम की विशुद्धि का कारण है ।

3. इससे ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना होती है ।

शास्त्रों में कहा गया है कि घर में आग लगने पर लोग जिस प्रकार अन्न, वस्त्रादि अन्य वस्तुओं को छोड़कर एकाध बहुमूल्य कीमती रत्न को ग्रहण करते हैं अथवा रण–संग्राम के समय सुभट

अन्य उपाय न देखकर तलवार, भाला आदि शस्त्रों को छोड़कर एक अमोघ बाण अथवा शक्ति आदि शस्त्र को ग्रहण करता है ।

वैसे ही मृत्यु के समय पूर्वधर महामुनि भी जब अन्य श्रुत(शास्त्र) को याद रखने में असमर्थ हो जाते हैं, तब द्वादशांगी को छोड़ कर श्री अरिहंत आदि के नमस्कार को ही याद करते हैं । इससे सिद्ध होता है कि नमस्कार महामंत्र, द्वादशांगी का अर्थ है अथवा समग्र द्वादशांगी का अध्ययन–वाचन परिणाम की विशुद्धि के लिए ही होता है ।

परम पुरुष परमेष्ठियों को नमस्कार करने से भी इसी अर्थ की सिद्धि होती है, अतः यह मंत्र द्वादशांगी का अर्थ है । अथवा ज्ञान–दर्शन–चारित्र ही द्वादशांगी का अर्थ है । वे गुण श्री अरिहंतादि पाँच परमेष्ठियों में रहे हुए हैं, पर दूसरों में नहीं । श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार द्वारा इन तीनों की साधना होती है अतः इससे भी यह मंत्र द्वादशांगी का अर्थ है अथवा संपूर्ण द्वादशांगी देव, गुरु एवं धर्म स्वरूप है एवं नमस्कार भी देव, गुरु एवं धर्म स्वरूप है ।

इस प्रकार द्वादशांगी से साध्य अर्थ का साधक होने से, मृत्यु वेला में भी सुखपूर्वक स्मरणीय होने से एक अपेक्षा से इन नमस्कार महामंत्र का माहात्म्य द्वादशांगी से भी बढ़ जाता है । शास्त्रकारों ने नामादि मंगलों में इस नमस्कार मंत्र को प्रथम मंगल कहा है एवं व्याधि, तस्कर, अग्नि आदि के सर्व भयों को दूर करने वाला बताया है । कहा है कि–

'हरइ दुहं कुणइ सुहं,जणइ जसं सोसए भवसमुद्दम् ।
इहलोय पारलोइय–सुहाण मूलं नमोक्कारो ।।'

अर्थात् यह नमस्कार मंत्र दुःखों का हरण करता है, सुख का सर्जन करता है, यश को पैदा करता है, भव समुद्र का शोषण करता है तथा इस लोक एवं परलोक के सुखों का मूल है ।

2. अरिहंत परमात्मा का उपकार

मग्गो अविप्पणासो, आयारो विणयया सहायत्त ।
पंचविह नमोक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं ।।

(आवश्यक निर्युक्ति गाथा 2944)

अर्थ :– मार्ग, अविप्रणाश, आचार, विनय एवं सहाय, इन पाँच हेतुओं द्वारा मैं पंच परमेष्ठी को पाँच प्रकार का नमस्कार करता हूँ ।

निर्युक्तिकार श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहुस्वामीजी 'आवश्यक निर्युक्ति' की उपर्युक्त गाथा में श्री पंच परमेष्ठी भगवंतों को पाँच कारणों द्वारा नमस्कार करने का विधान करते हैं ।

इन पाँच कारणों में परमेष्ठी को नमस्कार का प्रथम कारण **'मार्ग'** है । इस विषय में टीकाकार महर्षि कहते है कि पाँच परमेष्ठियों में प्रथम परमेष्ठी श्री अरिहंत, सर्वप्रथम नमस्कार के योग्य हैं, उसका कारण **'मोक्षमार्ग'** है अर्थात् सम्यग्–दर्शन आदि मोक्ष–मार्ग इन्हीं का बताया हुआ है । इस मार्ग पर चलने से भव्य जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होती है अतः मुक्ति की साधना में साक्षात् हेतु मोक्षमार्ग है एवं इस मार्ग को सर्वप्रथम बतानेवाले श्री अरिहंत भगवान हैं अतः श्री अरिहंत भगवान भी परंपरा से मोक्ष के कारण होने से पूज्य हैं ।

प्रश्न : जिस प्रकार श्री अरिहंत भगवान परंपरा से मोक्षमार्ग में उपकारी हैं वैसे ही वस्त्र, आहार, शय्या, आसन आदि भी साधक के लिए मोक्षमार्ग के साधन हैं अतः वे भी पूजा के पात्र क्यों नहीं ? इन्हें प्रदान करने वाले गृहस्थ भी उपकारी अथवा पूज्य क्यों नहीं ?

उत्तर : भाष्यकार भगवंत श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एवं टीकाकार महर्षि मल्लधारी श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने इस प्रश्न का उत्तर देते

हुए, श्री विशेषावश्यक भाष्य में मूल गाथा 2948 तथा उसकी टीका में कहा है–

``जं पच्चासन्नतरं कारणमेगंतिय च नाणाइं ।
मग्गो तद्दायारो सयं च मग्गोत्ति ते पुज्जा ।।1।।''

अर्थ :– यह ठीक नहीं कि परम्परा से ज्ञानादि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग में उपयोगी केवल वस्त्रादि अथवा उन्हें प्रदान करनेवाले गृहस्थादि ही उपकारी हैं वरन् दूसरे प्रकार से तीनों जगत् ही उपकारी हैं। परंतु वे सब दूर–दूर के कारण हैं । इतना ही नहीं, पर वे अनेकान्तिक अर्थात् ऐसे कारण हैं, जो कभी बन भी सकते हैं, कभी नहीं भी बनते हैं। परंतु अरिहंत भगवान मार्ग को देने वाले भी हैं एवं स्वयं मार्गस्वरूप भी हैं अतः पूज्य हैं ।

सबसे समीप का एवं अवश्य फल प्रदान करने वाला कारण तो रत्नत्रयी ही है एवं उसके प्रदाता श्री अरिहंत हैं । अतः वह मार्ग एवं उसके प्रदाता अरिहंत भगवंत वास्तव में उपकारी एवं पूज्य हैं । वस्त्रादि साधन एवं गृहस्थादि तो भगवन्तों से प्राप्त ज्ञानादि रत्नत्रय के लिए सम्भावित उपकार करनेवाले हैं अतः पूज्यत्व की पंक्ति में नहीं आते हैं । इतना ही नहीं, परंतु इससे पूज्य वस्तुओं की मर्यादा नहीं रहने से अनवस्था दोष भी प्राप्त होता है ।

उसके उपरांत भी विशेष कारण तो यह है कि श्री अरिहंत भगवान केवल मार्ग बताने वाले ही नहीं, स्वयं मार्गरूप भी हैं । अरिहंतों के दर्शनमात्र से भी भव्य जीवों को मोक्ष–मार्ग की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार श्री अरिहंत मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं, वैसे ही उपदेश के अतिरिक्त भी उनके दर्शन, पूजन, स्तवन एवं ध्यानादि भी मोक्ष एवं मोक्षमार्ग की प्राप्ति करवानेवाले होते हैं। यही अरिहंत भगवंन्तों की विशेषता है । कहा है कि–

नामाकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ।।1।।

अर्थ :– नाम, आकृति, द्रव्य एवं भाव द्वारा तीनों जगत् को पवित्र करनेवाले सर्वक्षेत्र एवं सर्वकाल के श्री अरिहंतों की हम उपासना करते हैं ।

अरिहंत भगवान उपदेश द्वारा ही मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के दाता हैं, ऐसा एकान्त नियम जैनशासन में नहीं है । उपदेश द्वारा, आज्ञापालन द्वारा जिस प्रकार अरिहंत भगवान मोक्ष एवं उसके मार्ग की प्राप्ति के हेतुभूत हैं, वैसे ही उनके नाम–स्मरणादि अथवा आकृति के दर्शनादि भी क्लिष्ट कर्म का क्षय करवाकर मोक्ष एवं उसके मार्ग की प्राप्ति के कारण बन जाते हैं । अरिहंत भगवान का नाम एवं रूप जिस प्रकार का क्षयोपशम करवाने वाले एवं मार्ग प्रदान वाले हैं, वैसे ही द्रव्य एवं भाव भी अन्तरायादि कर्मों को हटाने वाले एवं ज्ञानादि गुणों को प्रकट करनेवाले होते हैं ।

यहाँ द्रव्य का अर्थ है, उनकी पूर्वोत्तर अवस्थाओं का श्रवण, मनन एवं चिंतन ।

भाव अर्थात् समवसरण में स्थित धर्मोपदेश के समय चतुर्मुख अवस्था का ध्यान,नमन एवं पूजन आदि को समझना चाहिए । अरिहंत भगवन्तों की ऐसी एक भी अवस्था नहीं है कि जिसका ध्यान, चिंतन अथवा मनन आदि भव्य जीवों को मोक्षमार्ग अथवा बोधि–बीज की प्राप्ति का हेतु नहीं बने । इस प्रकार मार्गस्वरूप होने से अरिहंत भगवन्त उपकारी हैं, पूज्य हैं एवं इस कारण से मोक्षार्थी जीवों के लिए नमस्कार करने योग्य हैं । कहा है कि–

'ताहरूं ध्यान ते समकित रूप,
तेहीज ज्ञान ने चारित्र तेह छे जी;
तेहथी जाए सघला हो पाप,
ध्याता रे ध्येय स्वरूप होवे पछे जी' ।

(पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज)

अर्थात्–आपका ध्यान ही समकित रूप है, वही ज्ञान एवं चारित्र है, इसी से समस्त पाप नष्ट होते हैं एवं फिर ध्याता, ध्येय स्वरूप हो जाता है ।

3. सिद्ध भगवन्तों का उपकार

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु–इन पाँच परमेष्ठियों को किया जाने वाला नमस्कार मंगल का कारण बनता है । पर कब ? इसका ज्ञान नहीं हो तो रोज अनेक बार नमस्कार करते हुए अथवा गिनते हुए भी अध्यवसायों की विशुद्धि नहीं भी हो एवं वह भावमंगल का कारण नहीं भी हो–ऐसा बन सकता है । शास्त्रों में कहा है कि–

'प्रणिधानकृतं कर्म, मतं तीव्रविपाककृत्'

अर्थात् प्रणिधान यानी चित्त की एकाग्रता द्वारा किया हुआ कर्म तीव्र विपाक अर्थात् उत्कृष्ट फल प्रदान करने वाला होता है । इससे विपरीत एकाग्रता अथवा तन्मयता से रहित किया जाने वाला कर्म मंद विपाक वाला अथवा शून्य फल वाला होता है । इससे ज्ञात होगा कि कर्म का जितना महत्त्व है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक महत्त्व उसके पीछे रही एकाग्रता का हैं । परंतु यह एकाग्रता कैसे लाई जाए ?

केवल इच्छामात्र से कार्यसिद्धि नहीं होती । एकाग्रता आवश्यक है, इतना समझने मात्र से भी एकाग्रता नहीं आती । एकाग्रता लाने हेतु रुचि चाहिए एवं रुचि उसी काम में हो सकती है जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो । श्री अरिहंत को नमस्कार करने के द्वारा अपना कोई स्वार्थ सिद्ध होता दिखे, तो उसमें रुचि उत्पन्न हो सकती है । यह स्वार्थ क्या है ? श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने **'नमस्कार निर्युक्ति'** की एक गाथा द्वारा इसे स्पष्ट किया है ।

इसमें कहा है कि श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार करने से मैं **'मार्ग'** चाहता हूँ ।

सिद्ध भगवान को नमस्कार कर मैं **'अविप्रणाश** 'चाहता हूँ । आचार्य भगवान को नमस्कार कर मैं **'आचार'** चाहता हूँ ।

उपाध्याय भगवान को नमस्कार कर मैं **'विनय'** चाहता हूँ ।

एवं साधु भगवान को नमस्कार कर मैं **'सहाय'** की चाहना करता हूँ ।

मार्ग, अविप्रणाश, आचार, विनय एवं सहाय–ये पाँचों वस्तुएँ मुख्य रूप से परमेष्ठियों को नमस्कार करने से ही हमें प्राप्त हो सकती हैं । दूसरे किसी भी उपाय से वे प्राप्त नहीं हो सकतीं, अतः मैं इन पाँचों को नमस्कार करता हूँ । पूज्य आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामीजी का यह दृढ़ संकल्प है, अतः वे कहते हैं–

'पंच-विहनमोक्कारं, करेमि एएहिं हेऊहिं ।'

अर्थात्–इन पाँच हेतुओं से मैं पाँच प्रकार का नमस्कार करता हूँ **'मार्ग'**हेतु का विचार ऊपर किया जा चुका है । अब दूसरे **'अविप्रणाश'**हेतु का विचार किया जा रहा है । सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करते समय एकाग्रता लाने में मुख्य हेतु सिद्ध भगवन्तों की **अविनाशिता** का ध्यान है ।

इस अविनाशिता का विचार बताता है कि अरिहंत पदवी का अंत है, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु अवस्थाओं का भी अंत है, मात्र एक सिद्ध की अवस्था ही ऐसी अवस्था है कि जिस पर काल का अधिकार नहीं । देव–देवेन्द्र, चक्रवर्ती अथवा अहमिन्द्र के पद एवं सुखों का अंत है, किन्तु सिद्ध भगवान के सुख का अंत कभी नहीं । सादि अनंतकाल तक अव्याबाध रूप से यदि किसी भी सुख का उपभोग हो सके तो वह एक सिद्ध–पद का ही सुख है ।

पू. उपाध्याय भगवंत **श्री यशोविजयजी** महाराज आठवीं योगदृष्टि के वर्णन में रहते हैं–

सर्वशत्रुक्षय, सर्वव्याधिलय, पूरण सर्व समीहाजी;
सर्व अर्थ योगे सुख तेहथी, अनन्त गुण निरीहाजी।। 1।।

अर्थात्–सभी शत्रुओं का क्षय होने से, सभी व्याधियों का विलय होने से सभी इच्छाओं की पूर्ति होने से एवं सभी पदार्थों के संयोग से संसारी जीवों को जो सुख होता है, उससे अनन्त–गुणा सुख एक सिद्ध भगवान को होता है एवं उसका कभी अंत नहीं होता। सुख की यह स्थिति सिद्ध भगवान के अतिरिक्त दूसरे किसी को प्राप्त नहीं होती अतः वैसे अविनाशी सुख की चाहक आत्माओं के लिए सिद्ध भगवान को नमस्कार, परम उपादेय होता है। अविनाशीपन के प्रणिधान से सिद्ध भगवान को किया जाने वाला नमस्कार तन्मयता लाता है एवं यह तन्मयता नमस्कार को भाव नमस्कार में परिणत कर देती है। यह भाव नमस्कार ही परमार्थ मंगल है।

परमार्थ मंगल वस्तुतः आत्मा के शुभ अध्यवसाय को छोड़कर अन्य कोई नहीं है। अविनाशी गुण प्रणिधान द्वारा सिद्ध भगवन्तों को किया गया नमस्कार, शुभ अध्यवसाय को जगाने वाला होता है अतः यह भाव–मंगल है।

भाव–मंगल का अर्थ है निश्चय से मंगल। मंगल का कार्य, अनिष्ट का निवारण एवं इष्ट का लाभ दिलवाने का है। वह जिससे हो अथवा न भी हो, तो वह द्रव्य मंगल एवं जिससे अवश्य हो वह भाव मंगल है।

सम्यग्दृष्टि के लिए सारा संसार अनिष्ट है, मात्र मुक्ति का सुख ही इष्ट है। उसकी अवश्य सिद्धि सिद्ध भगवान के नमस्कार से तब होती है कि जब वह प्रणिधानपूर्वक किया जाए। इस प्रणिधान को लाने हेतु नमस्कार की अथवा दूसरी किसी भी क्रिया के पीछे प्रशस्त हेतु की आवश्यकता है, तभी प्रणिधान आ सकता है। अतः श्रुतकेवली भगवन्त श्री भद्रबाहुस्वामीजी उन हेतुओं को भी यहाँ नमस्कार के पीछे प्रधान हेतु रूप में स्थान देते हैं।

अरिहंत नमस्कार के पीछे **'मार्ग'** हेतु प्रधान है, तो सिद्ध नमस्कार के पीछे **'अविनाश'** हेतु प्रधान है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि दूसरे गौण हेतु अनेक हो सकते हैं । ज्यों–ज्यों उन हेतुओं का प्रणिधान बढ़ता जाता है त्यों–त्यों नमस्कार की भावरूपता, परमार्थ मंगलमयता बढ़ती जाती है । गौण हेतुओं में अरिहंत भगवान का **'शब्द '**एवं सिद्ध भगवान का **'रूप'** कहा जा सकता है । अरिहंत भगवान का **'औदार्य'** एवं सिद्ध भगवान का **'दाक्षिण्य'** कहा जा सकता है । अरिहंत भगवान का **उपशम** एवं सिद्ध भगवान का **संवेग** कहा जा सकता है । इसी प्रकार अरिहंत भगवान की **'मैत्री'** एवं सिद्ध भगवान का **'माध्यस्थ्य'**, अरिहंत भगवान की **'अहिंसा'** एवं सिद्ध भगवान का **'सत्य'** आदि भी गौण हेतुओं में माना जा सकता है ।

इस प्रकार अनन्त–अनन्त गुणों में से एक–एक गुण को अलग–अलग रूप से लेकर प्रणिधानपूर्वक अरिहंत, सिद्ध आदि परम पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने का अभ्यास सिद्ध किया जाए तो एकाग्रता बढ़ जाती है । शास्त्रोक्त तच्चित्त, तन्मय, तल्लेश्या, तदध्यवसाय, तत्तीव्राध्यवसान आदि विशेषणों से चित्त विभूषित हो जाए । इससे कच्ची मिट्टी के घड़े में भरे हुए जल के समान अशुभ कर्मों का समूल क्षय होकर सर्व शुभ मंगलों की प्राप्ति सुलभ बन जाती है ।

यह है पंचपरमेष्ठी भगवान के भाव नमस्कार की प्राप्ति का सरलतम उपाय । सभी भव्य आत्माएँ उसका आदर कर अपना सर्वोत्तम कल्याण साधे, यही कामना है ।

4. आचार्य भगवंत का उपकार

प्रणिधानपूर्वक किया गया कर्म, उत्कृष्ट फल प्रदान करने वाला होता है । प्रणिधान का अर्थ है चित्त की एकाग्रता । एकाग्रता का दूसरा पर्याय तन्मयता है । तन्मयता अथवा एकाग्रता लाने के उपायवाली क्रिया में रुचि उत्पन्न करना है एवं रुचि उसी क्रिया में उत्पन्न हो सकती है, जिस क्रिया को करने से कर्त्ता को उत्तम लाभ की सम्भावना हो ।

परमेष्ठि–नमस्कार से जीव को क्या लाभ होता है अथवा किस वस्तु के लाभ के लिए परमेष्ठि–नमस्कार किया जाए ? इस संबन्ध मे जितना स्पष्ट ज्ञान होगा, नमस्कार की क्रिया में उतना ही अधिक रस पैदा हो सकेगा । श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहुस्वामीजी के शब्दों में हम देख चुके हैं कि प्रथम परमेष्ठी श्री अरिहंत परमात्मा को नमस्कार करने से जीव को **'मार्ग'** हेतु की प्राप्ति होती है । इस मार्ग को भावमार्ग अर्थात् रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग जानना चाहिए । कहा है कि–

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र यह रत्नत्रयी ही मोक्षमार्ग है । श्री अरिहंत नमस्कार द्वारा रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है । अरिहंत नमस्कार ही निश्चय रूप से रत्नत्रयी स्वरूप मोक्षमार्ग है । अरिहंतों को नमस्कार करते समय अरिहंत पद की **'धारणा'** सम्यग्ज्ञान गुण को शुद्ध करती है । अरिहंत पद का **'ध्यान'** सम्यग्ज्ञान गुण को शुद्ध करता है एवं अरिहंत पद की **'तन्मयता'** सम्यक्चारित्र गुण की शुद्धि करती है ।

सम्यग्दर्शन गुण सम्यक् तत्त्व–रुचि रूप है । सम्यग्ज्ञान गुण सम्यक् तत्त्वबोध रूप है एवं सम्यक्चारित्र गुण सम्यक् तत्त्व–परिणति रूप है ।

अरिहंत के नमस्कार द्वारा अरिहंत पद की धारणा सिद्ध की जाती है । उस समय अरिहंत पद का **'ध्यान'** होता है एवं अरिहंत पद की ही **'तन्मयता'** साधी जाती है । पुनःपुनः नमस्कार द्वारा ज्यों ज्यों अरिहंत पद की धारणा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों जीव का सम्यक्–तत्त्व परिणति रूप चारित्र गुण प्रकट होता जाता है । अरिहंत को नमस्कार करते समय अरिहंत पद संबन्धी धारणा, ध्यान तथा तन्मयता साधी जाती है एवं उसके परिणाम स्वरूप होती जीव की शुद्धि तथा पुण्यवृद्धि द्वारा उत्तरोत्तर रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती जाती है । यह सब होने का कारण शुद्ध प्रणिधान है ।

प्रणिधान कहो अथवा एकाग्रता कहो, उसके होने के पीछे कारण है **'मोक्ष'** का लक्ष्य । साध्य के लक्ष्यपूर्वक होने वाली क्रिया, केवल क्रिया ही नहीं किन्तु रुचियुक्त क्रिया है । क्रिया में रुचि समाहित करने से वह क्रिया केवल कायवासित अथवा वाग्वासित नहीं रहकर मनोवासित भी बन जाती है । इस प्रकार मन, वचन एवं काया तीनों से वासित नमस्कार की क्रिया को ही शास्त्रों में **'नमस्कार–पदार्थ'** कहा है । श्री नमस्कार निर्युक्ति में श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने कहा है कि–

मणसा गुण–परिणामो, वाया गुण–भासणं च पंचण्हं।
काएण संपणामो, एस पयत्थो नमुक्कारो ।।1।।

अर्थ :– मन से आत्मा का पंच परमेष्ठी के गुणों में परिणमन, वचन से उनके गुणों का कीर्तन एवं काया से सम्यग् विधियुक्त उन्हें प्रणाम ही नमस्कार पदार्थ है अर्थात् नमस्कार पद का यही वास्तविक अर्थ है । सच्चा नमस्कार करने के लिए काया से प्रणाम एवं वाणी से गुणों के उच्चारण के साथ मन का परमेष्ठी के गुणों में परिणमन भी आवश्यक है । यह परिणमन परमेष्ठी–नमस्कार के पीछे रहे हेतुओं का शुद्ध चिंतन करने से होता है ।

अरिहंत भगवान के नमस्कार के पीछे जिस प्रकार **'मार्ग'** हेतु है, वैसे ही सिद्ध भगवान के नमस्कार के पीछे **'अविनाश'** हेतु है । संसार की सभी वस्तुएँ विनाशी हैं, एक सिद्ध पद ही अविनाशी है । **'अविनाशी'** पद की सिद्धि हेतु सिद्ध भगवान को किया जानेवाला नमस्कार सहेतुक नमस्कार है । इसी से वह भाव नमस्कार बनता है । किसी भी क्रिया को भाव क्रिया बनाने के लिए शास्त्रों ने चित्त को आठ प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट बनाने का आदेश दिया है । उन विशेषणों से यह समझा जा सकता है कि अपनी क्रिया, भाव क्रिया है अथवा नहीं ? साथ ही यदि यह भाव क्रिया नहीं हो, तो उसे भाव क्रिया बनाने का ज्ञान मिलता है । **श्री अनुयोगद्वार** सूत्र में भावक्रिया का लक्षण बताते हुए कहा है कि –

जण्णं समणे वा,समणी वा, सावए वा, साविया वा, तच्चित्ते, तम्मणे,तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिअकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओकालं आवस्सयं करेइ ।

अर्थ :– साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका उभयकाल आवश्यक करते हैं । किस प्रकार ? तच्चित्त, तन्मन, तल्लेश्या, तदध्यवसाय, तत्तीव्र–अध्यवसान, तद्अर्थोपयुक्त, तदर्पितकरण एवं तद् भावना से भावित होकर मन को अन्यगामी न बनाकर एकनिष्ठ होकर करे, तो यह भाव क्रिया है एवं इस प्रकार किया गया आवश्यक, भाव आवश्यक है ।

यहाँ सामान्य उपयोग को तच्चित्त कहा है, विशेष उपयोग को तन्मन कहते हैं । उपयोग की विशुद्धि को तल्लेश्या कहते हैं । जब भावानुसार ही स्वर भावित हो, तब लेश्या–विशुद्धि गिनी जाती है । जब स्वरानुसारी ध्यान होता है, तभी चित्त तदध्यवसित एवं वैसा ही तीव्र अध्यवसानमय गिना जाता है । तदर्पितकरण, तदर्थोपयुक्त एवं

तद्भावना भावित, ये चित्त के तीन विशेषण बढ़ती हुई एकाग्रता को सूचित करते हैं। सभी करण अर्थात् मन, वचन एवं काया, तथा करण, करावण एवं अनुमोदन द्वारा युक्त चित्त, अर्थ, भावार्थ एवं रहस्यार्थ में उपयोग युक्त चित्त एवं इन तीनों की भावना से भावित जब अंतःकरण हो जाए, तो आवश्यकादि क्रिया, भाव–क्रिया कहलाती है।

नमस्कार की क्रिया को भी यदि भाव क्रिया बनानी हो, तो चित्त अथवा अंतःकरण को उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट बनाना चाहिए। अंतःकरण भी विशेषणों से विशिष्ट तभी बनता है, जब नमस्कार की क्रिया सहेतुक बने अर्थात् क्रिया के पीछे हेतुओं का स्पष्ट ज्ञान एवं लक्ष्य हो।

श्री अरिहंत एवं श्री सिद्ध के नमस्कार के हेतुओं का ज्ञान होने के बाद श्री आचार्य–नमस्कार में रहे हेतु का ज्ञान आवश्यक है, वह हेतु आचारप्रधान है। आचार्य का आचार पाँच प्रकार, छत्तीस प्रकार अथवा एक सौ आठ प्रकार का है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य आत्मा के पाँच मुख्य गुण हैं। उन्हें प्रकट करने हेतु पाँचों आचार अनुक्रम से ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वार्याचार के नाम से जाने जाते हैं। उनमें से ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ एवं तपाचार के बारह प्रकार हैं। ये ही आचार के छत्तीस प्रकार हैं। इन्हीं छत्तीस प्रकार के आचारों को तीन प्रकार के वीर्याचार से गुणित करने पर एक सौ आठ प्रकार के आचार होते हैं। इनका विस्तृत विवेचन **आवश्यक सूत्र** एवं उसकी टीका आदि में किया गया है। इन सभी आचारों के ज्ञान एवं पालन में जो कुशल हैं, वे तीसरे पद पर प्रतिष्ठित भाव–आचार्य हैं। उपाध्याय भगवान एवं साधु भगवान भी इन सब आचारों से पूर्ण होते है परंतु वे आचार्य भगवंत की आज्ञा से प्रेरित होने से गौण हैं। पंचाचार के

पालक एवं प्रवर्तक मुख्यतया आचार्य भगवंतों के **'आचार'** गुण का प्रणिधान, आचार्य नमस्कार के पीछे होना चाहिए ।

पाँचों विषयों से रहित पाँच परमेष्ठियों में रहे सर्वश्रेष्ठ पाँच विषयों को अलग कर उन–उन विषयों के प्रणिधान पूर्वक पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाए, तो भी वह नमस्कार, भाव नमस्कार बन सकता है । पाँच विषयों में मुख्य विषय शब्द है एवं शब्दों में सर्वश्रेष्ठ शब्द श्री अरिहंत परमात्माओं का है ।

समवसरण में विराजमान श्री अरिहंत भगवान जब धर्मदेशना देते हैं, तब उनकी शब्द–ध्वनि आषाढ़ के मेघों की गर्जना से भी अधिक मधुर एवं गंभीर होती है । अथवा ऐसा मालूम होता है कि कहीं समुद्र-मंथन की ही ध्वनि न हो, वैसे प्रभु के श्रीमुख से निकलती शब्द की ध्वनि श्रोताओं के चित्त को हरनेवाली है, विषय रूप विष के आकर्षण को टालनेवाली होती है । श्री अरिहंत के शब्द की तरह सिद्धों का रूप एवं उनका प्रणिधान तीनों लोकों में स्थित सभी प्रकार के रूप की सुन्दरता का मिथ्या आकर्षण हटाने वाला होता है ।

शंका :– सिद्ध में रूप कहाँ है ? अशरीरी सिद्ध भगवंतों के शरीर ही नहीं, तो फिर रूप तो होगा भी कहाँ से ?

उत्तर :– यहाँ रूप शब्द का अर्थ शरीर का रूप नहीं लेकर आत्मा का रूप लेना चाहिए । पुनः शरीर का रूप अथवा सौंदर्य अन्ततः आत्मा के रूप को ही आभारी है । जीवरहित शरीर का रूप, रूप नहीं माना जाता । जब तक शरीर में जीव होता है, तब तक ही शरीर का रूप–सौंदर्य आकर्षित करता है । इसका अर्थ यह हुआ कि संसारी जीवों के शरीर का सौंदर्य भी वस्तुतः शरीर में रहे चेतन के सौंदर्य के साथ संबन्धित है । सिद्ध भगवान अशरीरी हैं अतः उनका रूप एवं सौंदर्य सभी संसारी जीवों के शरीर के रूप एवं सौंदर्य से विलक्षण है । यह रूप शरीर का नहीं है, तो भी देह में जो रूप है, वह

चेतना की उपस्थिति के कारण है । वह रूप चेतन का है अतः वह सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक है ।

सिद्ध का रूप सभी रूपों में श्रेष्ठ है, अतः उनका ध्यान अन्य सभी रूपी पदार्थों के रूप में अयोग्य आकर्षण को पल मात्र में बिखेर देता है । वैसे ही आचार्य भगवान के आचार की गंध, शील की सुगंध सर्व लौकिक सुगंधित पदार्थों की सुगंध के अयोग्य आकर्षण को टाल देती है ।

जीव में शब्द आदि विषयों की वासना अनादि काल से है । उस वासना को नष्ट करने के लिए एक ओर विषयों की विरसता का चिंतन एवं दूसरी ओर परिणामी विषयों की सुंदरता का प्रणिधान अति आवश्यक है । गंध की वासना को निर्मूल करने के लिए आचार्यों के भावाचारों की सुवास तथा पंचाचार के पालन से उत्पन्न होती शील रूप सुगंध का प्रणिधान उत्तम प्रणिधान का काम करता है ।

श्री अरिहंतों की गंभीर ध्वनि, श्री सिद्धों का अविनाशी रूप एवं श्री आचार्यों के सदाचार की सुवास हम देख चुके हैं । अब यह देखेंगे कि श्री उपाध्यायों के स्वाध्याय का रस तथा श्री साधुओं की निर्मल काया का स्पर्श तथा दोनों का प्रणिधान नमस्कार की क्रिया को किस प्रकार भाव क्रिया में परिवर्तित कर देता है ।

*सभी तीर्थंकरों ने पूर्व में, पहले हो चुके तीर्थंकरों की भक्ति की है । **'संग्राम-वारिधि-महोदर-बंधनोत्थं'** प्रभु के नाम स्मरण मात्र से ही युद्ध, समुद्र, महोदर, दावानल, दुष्काल तथा हाथी-सिंह आदि जंगली पशुओं के भय नष्ट हो जाते हैं । प्रभु सभी को सर्व भयों से मुक्त करना चाहते हैं ।*

5. उपाध्याय भगवंत का उपकार

श्रुतकेवली भगवान **श्री भद्रबाहुस्वामीजी** कहते हैं कि **'मार्ग'** अविप्रणाश, आचार, विनय एवं सहाय–इन पाँच हेतुओं के लिए मैं श्री पंच परमेष्ठी भगवान को नमस्कार करता हूँ। सहेतुक क्रिया ही फलवती होती है। हेतु अथवा संकल्प विहीन–कर्म फलीभूत नहीं होता। श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहुस्वामीजी के **'नमस्कार निर्युक्ति'** में नमस्कार के पीछे रहे पाँच प्रकार के हेतु बताए हैं। ये पाँच हेतु तो मात्र उपलक्षण हैं। मार्ग हेतु के लिए ही श्री अरिहंत को नमस्कार आवश्यक है, ऐसा नहीं है पर जिस प्रकार अरिहंत मार्गोपदेशक हैं अतः नमस्कार के पात्र हैं, वैसे ही वे औदार्यादि अनंत गुणों से अलंकृत हैं अतः नमस्करणीय हैं।

पाँच हेतुओं को बताकर ही पाँच की संख्या का विधान नहीं किया गया है, पर क्रिया को फलवती बनाने के लिए उन्हें हेतुपूर्वक करना चाहिए, यह नियम बताया गया है। उस हेतु रूप में श्री अरिहंतों की मार्गोपदेशकता, अनुपम अहिंसा आदि किसी भी एक गुण को लिया जा सकता है। अरिहंतों में स्थित किसी भी विशेषता को लक्ष्य कर जब श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार किया जाए, तो नमस्कार प्रणिधान युक्त बनता है। चित्त की एक्रागता लाने वाला बनता है।

कभी भी चित्त की एक्रागता बलपूर्वक नहीं साधी जा सकती और साधी जाए, तो दीर्घकाल तक टिकती नहीं है। चित्त का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जिसमें आनंद आता है, उसमें वह तुरंत ही स्थिर हो जाता है। श्री अरिहंत के नमस्कार में चित्त को स्थिर करना हो, तो अरिहंत में स्थित कोई भी मुख्यता, जिसमें स्वयं की रुचि हो, उसे

लक्ष्य करना चाहिए, उसके समक्ष लक्ष्य केन्द्रित करना चाहिए । ऐसा करने पर चित्त की लीनता आ जाएगी, लीनता आने के साथ ही मंगल का आगमन एवं विघ्नों का नाश हो जाता है ।

श्री नमस्कार मंत्र मंगलमय है, सर्व मंगलों में प्रधान मंगल है, सभी पापों का आत्यन्तिक क्षय करनेवाला है, आदि विशेषण तभी चरितार्थ होंगे जब स्मरण, जप अथवा ध्यान से चित्त लयलीन बनेगा । इस लीनता को लाने का एक साधन श्री अरिहंतादि परमेष्ठियों में स्थित विशेषताओं का प्रणिधान है ।

श्री अरिहंत परमात्मा में मोक्षमार्ग की आद्यप्रकाशकता के साथ विशुद्ध सम्यग्दर्शन है एवं यह सम्यग्दर्शन पाने की जितनी सामग्री चाहिए, उतनी एक साथ उनमें रही है । श्री आठ महाप्रातिहार्यों की पूजा, समवसरण की समृद्धि, अतिशय युक्त धर्म कथा, देवों की पूजा, पुण्य के प्रत्यक्ष फल आदि अगणित वस्तुएँ उनको देखने वाले, सुनने वाले अथवा परिचय में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपूर्व श्रद्धावान एवं धर्म के प्रति परम आदरवान बनाने का अचिन्त्य सामर्थ्य रखती हैं ।

श्री अरिहंतों का ज्ञान, श्री अरिहंतों का वैराग्य, श्री अरिहंतों का धर्म, श्री अरिहंतों को ऐश्वर्य आदि एक–एक वस्तु ऐसी है कि उसका प्रणिधान करने वाली आत्मा के अन्तःकरण में सम्यक्त्व का सूर्य उदित करती है, मिथ्यात्व का घोर अंधकार हमेशा के लिए दूर कर देती है । नमस्कार को भाव नमस्कार बनाने के लिए नमस्कार की क्रिया में चित्त के भाव को जगाने हेतु यह सरल युक्ति है ।

श्री षोड़शक आदि ग्रंथों में धर्मसिद्धि के पाँच लक्षण कहे हैं । उनमें से पहला लक्षण औदार्य अर्थात् कृपणता का त्याग, दूसरा धैर्य एवं गाम्भीर्य युक्त दाक्षिण्य एवं तीसरा लक्षण तीनों काल के पाप की

जुगुप्सा है, चौथा लक्षण निर्मलबोध एवं पाँचवाँ लक्षण जनप्रियत्व है। श्री अरिहंतों का अनुपम औदार्य उनकी धर्मसिद्धि को सूचित करता है, पुनः क्षायिक भाव से अरिहंतों में सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है। सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण उपशम अर्थात् अपराधी के प्रति क्रोध का अभाव है। श्री अरिहंतों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्य रूप सम्यक्त्व की चार भावनाएँ पराकाष्ठा को प्राप्त हैं। पुनः श्री अरिहंतों द्वारा प्रकाशित लोकालोक के स्वरूप का ज्ञान अद्वितीय है, विश्व में अजोड़ है। श्री अरिहंतों की अहिंसा सर्वलोकव्यापी है। समस्त जीवराशि को संग्रहित करनेवाली है–इत्यादि गुणों के प्रणिधान पूर्वक हो तो अरिहंत नमस्कार, गुण–बहुमान भावयुक्त होता है एवं गुण-बहुमान का भाव अचिन्त्य शक्तियुक्त है–ऐसा शास्त्र कहते हैं। कहा है कि–

भत्तीइ जिणवरिंदाणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा।
गुण–पगरिस–बहुमाणा, कम्मवणदवाणलो जेण ॥1॥

अर्थ :– जिनवरेन्द्रों की भक्ति से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है क्योंकि गुणप्रकर्ष का बहुमान, कर्म रूपी वन को जलाने हेतु दावानल का काम करता है।

श्री अरिहंतों की तरह श्री सिद्ध भगवान के **'अविनाशिता'** आदि गुणों के प्रणिधान पूर्वक होने वाला नमस्कार, गुण–बहुमान के भाववाला बनता है। अतः वह भी अचिन्त्य शक्तियुक्त है एवं कर्म वन को जलाने के लिए दावानल तुल्य बनता है। इस प्रकार श्री आचार्य को नमस्कार भी जब आचार्य में रहे भावाचार, सरलता, पाप-जुगुप्सा, भवनिर्वेद, करुणा, औचित्य आदि के प्रणिधानपूर्वक होता है तो वह असंख्य भवों में उपार्जित कर्मों को भस्म कर देता है। ऊपर हम देख चुके है कि श्री अरिहंतों के सर्वश्रेष्ठ–शब्द, संसार के सभी रूपों से बढ़कर सिद्धों का अविनाशी रूप, श्री आचार्यों का

आचार एवं उसके पालन से प्रकट होती भावसुवास, उन सबके प्रणिधान पूर्वक होता नमस्कार, भाव नमस्कार बनता है ।

अब हम देखेंगे कि श्री उपाध्याय भगवान को किया गया नमस्कार किस प्रकार भाव नमस्कार बनता है । शब्द, रूप एवं गंध जिस प्रकार क्रमशः श्रोत्र, चक्षु एवं घ्राण के विषय हैं वैसे ही रस एवं स्पर्श अनुक्रम से रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय के विषय हैं ।

जीव को उनका आकर्षण अनादि काल से है । उसे टालने के उपाय रूप में एवं उसके द्वारा उपाध्याय के नमस्कार को भाव नमस्कार बनाने के लिए श्री उपाध्याय भगवान से स्वाध्याय एवं उससे उत्पन्न होने वाले रस का प्रणिधान आवश्यक है । द्वादशांगी रूप प्रवचन का स्वाध्याय निरंतर करना एवं दूसरों को करवाना ही श्री उपाध्याय भगवान का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है ।

वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा रूप पाँच प्रकार के स्वाध्याय रूपी भाव रथ पर आरूढ़ चौथे श्री उपाध्याय–परमेष्ठी निर्विघ्न रूप से मुक्तिनगर की ओर प्रयाण कर रहे हैं । इस स्वाध्याय का रस अतीन्द्रिय तृप्ति को प्रदान करता है कि जो तृप्ति षड्रस भोजन का निरंतर स्वाद करनेवाले को भी दुर्लभ है ।

रसना के विषय, रस एवं उसकी तृप्ति को चाहनेवाले षड्रस भोजी पुरुष की तृप्ति तो वस्तुतः अतृप्ति को बढ़ानेवाली है परंतु श्री श्रुतज्ञान के अभ्यास से होनेवाली श्री उपाध्याय भगवान की तृप्ति अनादि विषयों की अतृप्ति को शांत करनेवाली एवं अतीन्द्रिय तृप्ति के निरुपम आनंद को प्रदान करनेवाली है । शाश्वत मोक्षसुख के आस्वाद के नमूने के रूप में अतीन्द्रिय तृप्ति का प्रणिधान, रसनेन्द्रिय के विषय रूप रस की अनादि तृष्णा को शांत कर अंततः मोक्ष के अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख को प्रदान करने वाला होता है ।

इस प्रकार होनेवाला भाव–नमस्कार सभी के पुण्य कार्यों के समूह में स्वामी तुल्य बनता है । इस भाव नमस्कार के बिना अनन्त बार ग्रहण किए हुए श्रमणलिंग भी द्रव्यलिंग बन गए हैं एवं उनकी साधना भी सार्थक नहीं बनी है । कहा है कि–

यथा नक्षत्रमालायां स्वामी पीयूषदीधितिः ।
तथा भावनमस्कारः सर्वस्यां पुण्यसंहतौ ॥1॥

जीवे नाकृतकृत्यानि, विना भावनमस्कृतिं ।
गृहीतानि विमुक्तानि, द्रव्यलिंगान्यनन्तशः ॥2॥

अर्थ :– नक्षत्रमाला में जिस प्रकार चन्द्रमा सभी का स्वामी है, वैसे ही सभी प्रकार के पुण्यसमूह में भाव नमस्कार मुख्य है । भाव नमस्कार रहित जीव ने अनन्त बार द्रव्यलिंग ग्रहण किये एवं छोड़े, पर कार्यसिद्धि नहीं हुई ।

कार्य की सिद्धि के लिए नमस्कार आवश्यक है एवं वह गुण-बहुमान के भाव से आता है । अतः श्री अरिहंतादि परमेष्ठियों के एक–एक विशिष्ट गुण को प्रधान बनाकर उसके प्रणिधानपूर्वक नमस्कार का अभ्यास डालना आवश्यक है ।

श्री उपाध्याय भगवान के स्वाध्याय के रस की तरह ही श्री साधु भगवान के संयम एवं तप से पवित्रीभूत शरीर के स्पर्श गुण का अचिंत्य प्रभाव एवं उसके प्रणिधान के स्वरूप का अब चिंतन करना है ।

कषाय विजेता के स्मरण से अपने कषायों का नाश होता है ।
इन्द्रियों की आसक्ति के कारण ही कषायों की उत्पत्ति होती है ।
वर्णमाता ज्ञान की श्रुत की माता है
अतः ज्ञानप्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उसका बहुमान करें ।
आत्मा को लगे कर्मरोग के लिए नवकार औषध तुल्य है ।

6. साधु भगवंत का उपकार

श्री पंच परमेष्ठियों को किया जानेवाला नमस्कार पापी से पापी एवं अधम से अधम जीव को भी पवित्र एवं उच्च बना देता है । श्री अरिहंत पद, श्री सिद्ध पद, श्री आचार्य पद, श्री उपाध्याय पद एवं श्री साधु पद में रही निर्मल आत्माएँ जगत् पर जो उपकार करती हैं, वैसा उपकार दूसरे किसी भी स्थान में रही आत्माएँ नहीं कर सकती हैं ।

देवेन्द्र अथवा चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव अथवा बलदेव, राजा–महाराजा अथवा राष्ट्रपति, विश्व की भौतिक समृद्धि के इन सभी अधिपतियों के उपकार, आध्यात्मिक समृद्धि के स्वामी एवं ईश्वर रूप श्री पंच परमेष्ठियों के उपकार के समक्ष नगण्य, तुच्छ एवं तृण तुल्य है । इसी कारण इन परमेष्ठियों को किया जानेवाला भाव नमस्कार सभी पापों का समूल नाश करने में समर्थ है ।

श्री अरिहंतादि परमेष्ठियों का आध्यात्मिक उपकार ज्यों–ज्यों समझ में आता है, त्यों–त्यों उनके प्रति विशेष बहुमान पैदा होता जाता है । श्री अरिहंतों का यह उपकार मार्ग–देशकता का है, श्री सिद्धों का उपकार अविनाशिता का है, श्री आचार्यों का उपकार आचार–सम्पन्नता का है, श्री उपाध्यायों का उपकार विनय–सम्पन्नता का है एवं श्री साधु भगवंतों का उपकार मुक्तिमार्ग में सहायता देने का है ।

प्रथम चार परमेष्ठियों के उपकारों का यत्किंचित् वर्णन हम कर चुके है । अब हम पाँचवें पद में यह देखेंगे कि साधु भगवंत का विशेष उपकार क्या है और नमस्कारकर्ता पर वह किस प्रकार होता है ?

शरीर में पाँच इन्द्रियाँ हैं तो लोक में परमेष्ठी भी पाँच हैं । प्रत्येक इन्द्रिय का एक–एक विषय है एवं उस विषय के संबंध में जीव को अनादिसिद्ध अनुराग है, पर पंच परमेष्ठी के प्रति भक्तिराग को प्रयत्नपूर्वक साधना पड़ता है । विषय संबंधी राग एवं परमेष्ठी भगवान के प्रति राग एक ही समय में एक चित्त में सम्भव नहीं हैं । एक जड़ है तो दूसरा चेतन है । जड़ एवं चेतन के धर्म अलग–अलग हैं । शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श जड़ के धर्म हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख एवं वीर्य चेतन के धर्म हैं । अतः जिसे जड़ के धर्म रुचिकर लगें, उसे चेतन के धर्म कैसे अच्छे लगेंगे ? अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है–**'जहाँ राम तिहाँ काम नहीं, जहाँ काम तिहाँ राम नहीं ।'** अंधकार और प्रकाश दोंनों एक ही स्थान पर साथ–साथ नहीं रह सकते हैं । इसी प्रकार एक ही चित्त में विषयों का राग एवं परमेष्ठियों की भक्ति एक ही काल में टिक नहीं सकती । परमेष्ठियों के प्रति भक्तिराग उत्पन्न करना हो, तो विषयों के प्रति वैराग्य साधना चाहिए । उस वैराग्य को साधने का उपाय विषयों की विपाकविरसता एवं नश्वरता का बारम्बार चिंतन करना है, परंतु सोचना सरल है, करना सरल नहीं है । बारबार के सुखानुभव से विषयों के प्रति साधी हुई दृढ़ राग–वासना इतनी गहरी है कि वह चिंतनमात्र से नष्ट नहीं होती । बल्कि अनेक बार के अभ्यास से दृढ़ बनी वैराग्य भावना एक ही बार के विषय–संसर्ग से भी चली जाती हुई अनुभव की जाती है ।

वैराग्य मार्ग, प्रवाह के प्रतिकूल तैरने जैसा है । उस मार्ग में सिद्धि का अनुभव वाले पुरुष विरले होते हैं । अनेक जन्म के घने अभ्यास के परिणामस्वरूप किसी विरल जीव को ज्ञान एवं विचार के इस मार्ग में वैराग्य की सिद्धि प्राप्त होती है ।

एक अन्य मार्ग सरल है एवं उसका अनुसरण सामान्य मनुष्य भी कर सकते हैं । अधिकांश जीवों ने इस मार्ग पर चलकर आसानी

से सिद्धि प्राप्त की है । यह मार्ग विषयों के प्रति वैराग्य साधने का नहीं, परंतु विषयों से संबन्धित राग का परिवर्तन करने का है । इस मार्ग में अनादिसिद्ध राग–वासना का सामना करने के बदले उसे अनुकूल बनाकर स्वार्थ साधा जाता है । सादी भाषा में कहा जाय तो लड्डू देकर आभूषण लेने जैसा सरल मार्ग है ।

इन्द्रियों के विषयों के प्रति जीव को सहज अनुराग है, वह अधिकांशतया कुत्सित, बीभत्स एवं अप्रशस्त कोटि का होता है । किन्नरियों के मधुर शब्द जीव को अच्छे लगते हैं, कामिनियों के मनोहर रूप अच्छे लगते हैं, सुवासित पदार्थों की सुगंध अच्छी लगती है, स्वादिष्ट वस्तुओं के मधुर रस अच्छे लगते हैं, एवम् सुकुमार पदार्थों के कोमल स्पर्श अच्छे लगते हैं परंतु ये सब क्षण–परिणामी होते हैं । उनसे मिलनेवाला सुख केले के तने की तरह असार होता है । उससे जीव को तृप्ति नहीं होती, बल्कि उसकी अतृप्ति बढ़ती है । उससे मिलने वाले सुखों का अनुभव राग–वासना को घटाने के बदले अधिक दृढ़ करता है ।

इन्हीं शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्शों के विषयों के स्थानों को अप्रशस्त के बदले प्रशस्त स्थान पर बदल दिया जाए, तो उससे राग–वासना शिथिल होती है, चंचलता मिटती है एवं जीव को शांति प्राप्त होती है ।

वासनाओं को बढ़ाने वाले राग को प्रशस्त स्थानों पर सिद्ध किया जाए, तो वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र को बढ़ानेवाला होता है । राग के साधन को भी वैराग्य का साधन बनाने की यह एक अपूर्व युक्ति है । इस युक्ति का आश्रय लेकर ही शास्त्रकार भगवन्तों ने तीव्र राग–वासना वाले गृहस्थों के लिए द्रव्यस्तव का विधान किया है । विविध प्रकार के द्रव्यों पर रही रागद्वेष की वासना को इस क्रम से नष्ट किया जा सकता है । परमेष्ठि–नमस्कार को भाव नमस्कार बनाने हेतु भक्तिमार्ग की यह सुंदर योजना है ।

श्री अरिहंत भगवन्तों की धर्मदेशना एवं उनके मुख–कमल से निकलती आषाढ़ी मेघ के समान गंभीर तथा धीर ध्वनि इस प्रकार का शब्द करती है कि जिस शब्द का श्रवण करने, मनन एवं चिंतन करने, स्मरण एवं ध्यान करने से राग के बदले ज्ञान, अविवेक के बदले विवेक तथा मूर्छा के बदले त्याग बढ़ता है । यही न्याय सिद्ध भगवंतों के रूप, आचार्य भगवन्तों की शीलसुगंध, उपाध्याय भगवन्तों के स्वाध्याय रस तथा साधु भगवन्तों के स्पर्श के साथ लागू होता है । राग के साधनभूत वे सभी विषय वैराग्य के हेतुभूत बन जाते हैं ।

श्री सिद्ध भगवन्तों का बाह्य रूप नहीं है,तो भी आंतर रूप है ।

श्री आचार्य भगवन्तों में बाह्य पदार्थों की सुगंध नहीं है, तो भी शील एवं सदाचार के पालन से प्रकट आन्तर सुगंध अवश्य है ।

उपाध्याय भगवन्तों में बाह्य रस नहीं है, तो भी द्वादशांग प्रवचन के नित्य स्वाध्याय से उत्पन्न निर्मल ज्ञान का एवं पवित्र वचनों का रस अवश्य है ।

साधु भगवन्तों के पास कामिनियों जैसा कोमल अंगस्पर्श नहीं है, तो भी उग्र तप एवं कठोर संयम के पालन से उत्पन्न निर्मल एवं पवित्र स्पर्श अवश्य है, फिर भले ही वह उनकी पवित्र काया का हो अथवा उस काया से स्पर्श किए पवित्र वायु एवं वातावरण का हो । इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के ध्यान, चिंतन अथवा स्मरण में मन को पाँचों इन्द्रियों के विषय मिल जाते हैं । इससे वह सहज चपलता का त्याग कर स्थिरता प्राप्त करता है ।

यहाँ साधु भगवन्तों के स्पर्श के पवित्र होने के निम्न कारण हैं–

(1) साधुपने के स्वीकार के साथ पहले दिन से ही पाँच समिति एवं तीन गुप्ति से युक्त पाँचों महाव्रतों का वे सतत पालन करते हैं ।

(2) वे पाँच प्रकार के स्वाध्याय सहित पाँचों परमेष्ठियों का सतत ध्यान करते हैं ।

(3) पाँचों ज्ञान के आराधन द्वारा पंचम गति को प्राप्त करने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं ।

इन कारणों से साधु भगवन्तों की काया, उनकी इन्द्रियाँ एवं मन, उनके विचार, उनके आसपास का वातावरण हमेशा विशुद्ध रहता है । इस वातावरण को स्पर्श करनेवाली अथवा उनका मात्र ध्यान करनेवाली चिंतन, एवं स्मरण करने वाली आत्मा स्पर्शेन्द्रिय के अयोग्य अनुराग से मुक्त होती है, इतना ही नहीं देवांगनाओं के स्पर्श को भी उनके समक्ष तुच्छ समझती है, तालपुट विष तुल्य समझती है । स्पर्शेन्द्रिय का जो विषय दुःख एवं दुर्गति का हेतु है, उसे ही यदि दूसरे स्थान पर जोडा जाए, तो वह सुख एवं सद्गति का हेतु बन जाता है ।

वस्तुतः सुख एवं सद्गति का हेतु शुभ ध्यान है । साधु का स्पर्श, अथवा साधु का स्पर्श किए हुए वातावरण को छूना, अथवा इस पवित्र स्पर्श का मात्र मानसिक विचार भी जीव के शुभ ध्यान को उत्तेजित करता है । इस शुभ ध्यान के बल पर जीव सद्गति का अधिकारी बनता है । अप्रशस्त विषय जिस प्रकार अशुभ ध्यान को जगाते हैं, वैसे ही प्रशस्त–विषय शुभ ध्यान को जगाने का सामर्थ्य रखते हैं । कहा भी है कि–

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दुग्गइं ।।

अर्थ :– विषय शल्य हैं, विष हैं एवं आशीविष की उपमावाले है । उन विषयों की इच्छा करने मात्र से इन विषयों से रहित भी दुर्गति में चले जाते हैं ।

अप्रशस्त विषय, चिंतन मात्र से अशुभ ध्यान को उत्तेजित कर

दुर्गति देने की शक्ति रखते हैं, तो इनसे विपरीत प्रशस्त विषयों का चिंतन शुभ ध्यान को जगाता है एवं उसके द्वारा सद्गति दिलाता है, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अनुभव भी यही कहता है कि दुर्गतिदायक स्पर्शेन्द्रिय का विषय अपना स्थान बदल दे तो सद्गति का कारण बन जाता है । इसीलिए साधु भगवन्तों का स्पर्श एवं उनका प्रणिधान जिसके गर्भ में है, ऐसा परमेष्ठि–नमस्कार, द्रव्य नमस्कार को भाव नमस्कार बना देता है ।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि अप्रशस्त विषयों के ध्यान में जैसी तीव्रता आती है, वैसी तीव्रता प्रशस्त विषयों के ध्यान में अनुभव नहीं की जाती । अतः अप्रशस्त विषयों का ध्यान दुर्गतिदायक बनता है, यह बात मान्य है, पर प्रशस्त विषयों में जहाँ तक वैसी तीव्रता नहीं आए, तब तक वह सद्गतिदायक किस प्रकार बन सकता है ? यह बात बिल्कुल सत्य है । इसी कारण कहा गया है–

ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।1।।

क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृति–विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।2।।

अर्थ :– विषयों के ध्याता पुरुष को आसक्ति उत्पन्न होती है; आसक्ति से कामना जगती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश एवं बुद्धिनाश से सारे विनाश सम्भव होते हैं ।

अप्रशस्त विषयों के ध्यान की परंपरा से जो अनर्थ होते हैं, वे सर्वलोक प्रसिद्ध हैं, किन्तु प्रशस्त विषयों के ध्यान से उत्पन्न अर्थ-परंपरा का प्रत्यक्ष अनुभव बहुत कम लोगों को होता है । इसके मूल में अनेक कारण हैं । उसमें मुख्य कारण अभ्यास का अभाव है । प्रत्येक वस्तु अभ्यास से ही सिद्ध होती है । प्रशस्त विषयों के ध्यान का

अभ्यास कोई विरल आत्मा ही करती है एवं जो कोई करती है, उसे उसका फल अवश्य मिलता है ।

द्रव्य–आवश्यक को भाव–आवश्यक बनाने के लिए शास्त्रों में जो क्रम बतलाया है, उसके अनुसार अभ्यास किया जाय, तो द्रव्य नमस्कार को भी भाव नमस्कार बनाया जा सकता है । **'श्री अनुयोगद्वारसूत्र '** में यह क्रम कहा गया है–

'से समणे वा समणी वा तच्चित्ते तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिअकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे, उभओकालं आवस्सयं करेंति ।'

अर्थ :– साधु, साध्वी, श्रावक अथवा श्राविका, उभयकाल आवश्यक करते हैं तो किस प्रकार ?

'तच्चित्त' यहाँ **'चित्त'** शब्द सामान्य उपयोग के अर्थ में है, अंग्रेजी में इसे Attention (अंटेशन) कहा जा सकता है ।

'तन्मन' यहाँ **'मन'** शब्द विशेष उपयोग के अर्थ में है, अंग्रेजी में इसे Interest (इंटरेस्ट) कहा जा सकता है ।

'तल्लेश्या' – यहाँ **'लेश्या'** शब्द उपयोग विशुद्धि के अर्थ में है । अंग्रेजी में इसे Desire(डिजायर) कहा जा सकता है ।

'तदध्यवसाय' – यहाँ विशुद्धि का चिह्न भावित स्वर है । अर्थात् जैसा भाव वैसा ही भावित स्वर । यह उपयोग की विशुद्धि का सूचक है । जैसा स्वर वैसा ही ध्यान जब होने लगता है, तब उसे तदध्यवसाय कहा जाता है । अंग्रेजी में इसे Will (विल) कहा जा सकता है ।

वही ध्यान जब तीव्र बनता है, तब उसे **'तत्तिव्वज्झवसाणे'** कहा जाता है, अंग्रेजी शब्द Power of Imagination(पॉवर ऑफ इमेजीनेशन) इसका समकक्ष कहा जा सकता है ।

'तदट्ठोवउत्ते' अर्थात् उसी के अर्थ में प्रयुक्त । इसे अंग्रेजी में Visualization (विजुअलाइजेशन) कहा जा सकता है ।

तत्पश्चात् **'तदप्पियकरणे'** अर्थात् जिसने सभी कारण उसी के विषय में अर्पित कर दिए हैं । अंग्रेजी में उसे Identification (आइडेन्टीफिकेशन) कहा जा सकता है ।

अंत में **'तब्भावणाभाविए'** अर्थात् उसी की भावना से भावित होना, उसे अंग्रेजी में Complete Absorption(कम्पलीट अब्जोर्प्शन) कहा जा सकता है ।

तच्चित्त से लगाकर **तद्भावनाभावित** तक की सभी अवस्थाएँ अप्रशस्त विषयों के चिंतन के समय जीव को अनायास ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उसका अभ्यास जीव को अनादि काल से है । प्रशस्त विषयों के ध्यान में वैसा नहीं होता, क्योंकि उनका चिरकालीन अभ्यास नहीं है, वह तो प्रयत्न से ही साध्य होता है । इसलिए श्री **अनुयोग–द्वार**–सूत्र में कहा है कि **अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणं,** अर्थात् अन्यत्र किसी भी स्थान पर मन को जोडे बिना आवश्यक करे तो वह आवश्यक, भाव–आवश्यक बनता है । जो बात आवश्यक के विषय में लागू पड़ती है वही बात नमस्कारादि किसी भी सदनुष्ठान के लिए भी लागू पड़ती है ।

पंच परमेष्ठी में रहे प्रशस्त विषयों के ध्यान से जिस प्रकार एकाग्रता लाई जा सकती है वैसे ही उनमें (परमेष्ठियों में) रहे प्रत्येक विशेषण–गुण को प्रधानता देकर, उनका ध्यान किया जाए तो भी एकाग्रता साधी जा सकती है । यह एकाग्रता द्रव्य–नमस्कार को भावनमस्कार में बदलने का सामर्थ्य रखती है ।

सामान्य नियम ऐसा है कि स्थूल से सूक्ष्म, मूर्त से अमूर्त एवं आलम्बन से निरालम्बन में जाया जाता है । विषय स्थूल, मूर्त एवं परिचित हैं अतः सर्वप्रथम प्रशस्त विषयों के आलंबन द्वारा क्रमशः सूक्ष्म, अमूर्त एवं अपरिचित में पहुँचा जा सकता है ।

परमेष्ठी **पाँच** हैं । विषय भी पाँच है । विषय परिचित हैं । परमेष्ठी अपरिचित हैं । परिचित विषयों के आलंबन से अपरिचित परमेष्ठियों के स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार पाँच–पाँच के जितने प्रशस्त जोड़े बन सकें, उनका प्रत्येक का आलंबन लेकर श्री पंच परमेष्ठी के ध्यान में तन्मय बना जा सकता है एवं इस तन्मयता द्वारा नमस्कार को भाव नमस्कार में बदला जा सकता है ।

पाँच परमेष्ठियों में रहे पाँच महाव्रत, पाँच आचार, सम्यक्त्व के पाँच भूषण एवं धर्मसिद्धि के पाँच लक्षण, मैत्री आदि भाव, क्षमा आदि धर्म जो साधारण रीति से अपने से परिचित हैं, उन्हें पाँच–पाँच की संख्या में योजित कर पंच परमेष्ठियों का विशुद्ध प्रणिधान हो सकता है, जैसे कि अरिहंन्तों में रही अहिंसा, सिद्धों में रहा सत्य, आचार्यों में रहा अचौर्य, उपाध्यायों में रहा ब्रह्मचर्य एवं साधुओं में रही अकिञ्चनता इत्यादि ।

अरिहंतों में अहिंसा के साथ सत्य आदि गुण भी रहे हुए हैं वैसे ही सिद्धों में, आचार्यों में, उपाध्यायों में एवं साधुओं में भी ये गुण रहे हैं, तो भी ध्यान की सुविधा के लिए प्रत्येक में एक–एक गुण अलग मानकर चिंतन करने से ध्यान सुदृढ़ बनता है । इसी प्रकार सभी विषयों में इसी क्रम का पालन करना चाहिए ।

इस प्रणिधान पूर्वक किया नमस्कार, भाव नमस्कार गिना जाता है एवं उसके फलस्वरूप जीव को बोधिलाभ, स्वर्ग के सुख तथा परंपरा से सिद्धगति के अनंत एवं अव्याबाध सुख मिल सकते हैं ।

7. श्री नवकार में नौ रस

साहित्य क्षेत्र में **'रस'** का खूब महत्त्व है । काव्यशास्त्र में भी उसे महत्त्व का स्थान प्राप्त है एवं रसशास्त्र पर बड़े–बड़े विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं । ये रस नौ हैं एवं उनमें नौवाँ रस **'शांत'** रस है । कितने ही आचार्य उसे रस नहीं मानते हैं उनके मतानुसार रसों की संख्या आठ हैं । कतिपय आचार्य आठ रसों के अतिरिक्त नौवें शांत रस को भी मानते हैं और पुनः कितने ही आचार्य नौ रसों के उपरांत **'वात्सल्य'** नाम के दसवें रस को भी स्वीकार करते हैं । श्री नमस्कार महामंत्र में ये रस किस प्रकार अन्तर्भाव प्राप्त करते हैं, यही विचार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

कलिकालसर्वज्ञ **श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराज **'वात्सल्य'** रस को स्वतंत्र रस नहीं मानते और शांत सहित मात्र नौ रसों को ही रस रूप में स्वीकार करते हैं । उन नौ रसों के नाम अनुक्रम में इस प्रकार हैं–

1.श्रृंगार, 2.हास्य, 3.करुण, 4.रौद्र, 5.वीर, 6.भयानक, 7.बीभत्स, 8.अद्‌भुत, 9.शांत ।

उनके प्रत्येक के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव काव्यानुशासन नाम की अनुपम कृति में सविस्तार बताए गए हैं । नौ रसों के स्थायी भावों के नाम भी वहाँ कहे गए हैं । वे अनुक्रम से (1) रति, (2) हास, (3) शोक, (4) क्रोध, (5) उत्साह, (6) भय, (7) जुगुप्सा, (8) विस्मय, (9) शम हैं ।

ये नौ स्थायी भाव प्रत्येक मनुष्य में जन्म से ही विद्यमान हैं अतः उन्हें स्थायी अर्थात् स्थिर भाव कहा गया है । ये स्थायी भाव जिन निमित्तों को प्राप्त कर अभिव्यक्त होते हैं उन्हें आलंबन–विभाव एवं जिन निमित्तों से बढते हैं, उन्हें उद्दीपन–विभाव कहते हैं । इस अभिव्यक्ति एवं वृद्धि के समय होती शरीर की विभिन्न चेष्टाओं को

सात्त्विक भाव अथवा अनुभाव कहा जाता है । उस समय अनुभव की जाती हुई अलग मानसिक वृत्तियाँ व्यभिचारी अथवा संचारी–भाव कही जाती हैं ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि निमित्तों की पूर्ण उपस्थिति में होते आंतर–बाह्य अनुभवों का पुनः–पुनः परिशीलन ही रस रूप में परिणत होता है । यह रसानुभाव अनुभव काल में अलौकिक आनंद प्रदान करता है, अतः उसे 'ब्रह्मानंदसहोदर' भी कहा जाता है ।

यहाँ ब्रह्म से तात्पर्य आत्मस्वरूप है । उस आनंद का सहोदर अर्थात् सहजन्मा, समान, भाई अर्थात् साक्षात् आत्मस्वरूप के आस्वाद तुल्य जिसका अनुभव है, उसे ब्रह्मास्वादसहोदर भी कहा जा सकता है ।

केवल मानसिक भावों के आवेग को ही यहाँ रस नहीं कहा गया है, किन्तु रसन–आस्वादन को रस कहा गया है । पृथक्–पृथक् भावों के साथ उन भावों का अनुभावन करनेवाली आत्मा का भी रसन–स्मरण जिसमें है, वह रस है । कहा है **'भावस्मरणं रसः'** अर्थात् भावों का स्मरण ही रस है । तात्पर्य यह है कि मात्र आवेगों का अनुभव ही नहीं, पर इन अनुभवों के स्मरणकर्ता आत्मा का अनुभव ही रस है । **'अहं क्रोधवानस्मि, अहं शोकवानस्मि, अहं भक्तिमानस्मि'** आदि स्मरणात्मक अनुभव ही रस का रसत्व है । संक्षेप में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होता स्थायी भाव ही रस है ।

यहाँ विभाव का अर्थ है–विशेष कारण । उसके दो भेद हैं–आलम्बन–विभाव एवं उद्दीपन–विभाव । जिन आलंबनों को अर्थात् निमित्तों को प्राप्त कर रस की उत्पत्ति होती है, उन्हें आलंबन–विभाव एवं जिन निमित्तों की उपस्थिति में रस की अभिवृद्धि हो उन्हें उद्दीपन–विभाव कहा जाता है । दूसरे अनुभावों को सात्त्विक भाव भी कहते हैं । अधिकांशतया वे रसानुभव के समय होती विभिन्न प्रकार की

शारीरिक चेष्टाएँ हैं । तीसरे व्यभिचारी भावों को संचारी भाव भी कहते हैं । क्योंकि वे प्रत्येक रस के अनुभवों में एक जैसे नहीं रहते, पर बदल जानेवाले होते हैं । काव्यशास्त्र में प्रत्येक के हेतु, स्वरूप एवं फल का विस्तृत वर्णन किया गया है । यहाँ तो उनका सूचन मात्र कर श्री नमस्कार महामंत्र के स्मरण तथा जप के समय प्रत्येक रस का अनुभव किस प्रकार किया जा सकता है, उसी का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है ।

शांत रस रसाधिराज है । यह सभी रसों का राजा है । सात्त्विक भाव के प्रकर्ष के समय सभी रस, शांत रस में परिणत होते हैं । श्री नमस्कार महामंत्र शांत रस का भण्डार है, कोष है अथवा शांत रस से भरा हुआ महासागर है । उसमें स्थित पाँचों परमेष्ठी एकान्त शांत रस से भरे हुए अमृत कुण्ड के समान हैं । मूर्तिमान शांत रस के निर्झर हैं । शांत रस के विभावों को, अनुभावों को और व्यभिचारी भावों को समझने से यह बात अधिक स्पष्ट होगी ।

श्री काव्यानुशासन नाम के ग्रंथरत्न में कहा है कि **'वैराग्यादि विभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादि व्यभिचारी शमः शांतः'** (अ. 3–सू. 5) अर्थात् वैराग्यादि–विभावों से, यमनियमादि अनुभावों से और धृति, स्मृति और व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त होता तृष्णा–क्षय रूप शम, शांत–रस है ।

शांत रस के आलंबन–विभाव रूप में वैराग्यादि हैं और उद्दीपन–विभाव में सत्संगादि हैं । **'वैराग्य आदि'** शब्द से वैराग्य के उपरांत संसार–भीरुता तथा संसार तथा मोक्ष का वास्तविक स्वरूप समझाने वाला तत्त्वज्ञान, संसार से पार गये वीतराग पुरुषों का परिशीलन, उनके परिशीलन से प्राप्त होने वाले सद्गुण के विकास एवं सदाचार के लाभ रूपी अनुग्रह आदि ग्रहण करने चाहिए ।

संत्सग आदि शब्द से सत्संग के उपरांत सत्–शास्त्र का

श्रवण, मनन एवं अध्ययन तथा तीर्थ–श्रेत्र, देवस्थान, निर्जन–अरण्य गिरि, गुहा, पुण्याश्रम आदि लेने चाहिए । इस प्रकार के बाह्य–अभ्यंतर निमित्तों के बल पर शांत रस की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि होती है ।

यम–नियम आदि का पालन, समिति–गुप्ति आदि व्रत नियमों का सेवन, मूल–गुण तथा उत्तर–गुणों का धारण आदि अनुभावना के स्थान पर है, इससे मन–वचन–काया की चेष्टाएँ विशुद्ध बनती है ।

मति, स्मृति, धृति, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे तृष्णा–क्षय रूपी शमरस चर्वण को प्राप्त होता है और बारबार चर्वण को प्राप्त हुआ शम, शांत रस के रूप में परिणत होता है ।

जहाँ शांत रस होता है, वहाँ सात्त्विक भाव को प्राप्त दूसरे आठ रस अपनी उच्च दशा में विद्यमान होते हैं । उसी कारण शांत रस, सभी रसों में राजा कहलाता है । अन्य रसों का जब ऊर्ध्वीकरण होता है, तब प्रत्येक रस शांत रस रूप बन जाता है ।

इन रसों का उच्चीकरण–ऊर्ध्वीकरण अथवा सात्त्विकीकरण किस प्रकार हो एवं उस समय सभी रस किस प्रकार शांत रस में मिल जाते हैं, यह बात समझने के लिए प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव एवं सहचारी भावों सहित स्थायी भावों को भी समझना चाहिए । यहाँ नाम मात्र बताकर यह विवेचन करेंगे कि उन सब रसों का शांत रस में किस प्रकार अन्तर्भाव होता है ।

श्रृंगारादि रसों के नाम ऊपर बता चुके हैं । अब यह देखेंगे कि उनका प्रत्येक का स्थायीभाव क्या है ? श्रृंगार का स्थायीभाव–रति, हास्य का स्थायीभाव–हास, करुणा का स्थायीभाव–शोक, रौद्र का स्थायीभाव–क्रोध, वीर का स्थायीभाव–उत्साह, भयानक का स्थायीभाव–भय, बीभत्स का स्थायीभाव–जुगुप्सा, अद्‌भुत का स्थायीभाव–विस्मय है । रति से लगाकर विस्मय तक के स्थायीभाव प्रत्येक जीव में विद्यमान रहते हैं । उन्हे प्रकट करने के लिए सामग्री उपलब्ध होते ही वे अभिव्यक्त होते हैं ।

उदाहरणतया श्रृंगार रस का स्थायीभाव **'रति'** है एवं रति संयोग–विषयक इच्छारूप है अतः नायक–नायिका, उनकी चेष्टा तथा दूसरे निमित्त मिलते ही श्रृंगार रस का प्रादुर्भाव होता है । उसका ऊर्ध्वीकरण करना हो, तो आलंबन तथा उद्दीपन विभाव बदल देने चाहिए । नायक–नायिका और उनकी चेष्टाओं के स्थान पर पंच परमेष्ठी भगवंत एवं उनकी उदात्त प्रवृत्तियों को देखने अथवा स्मरण करने के साथ ही उनके संयोग विषयक इच्छा रूपी रतिभाव उद्दीप्त होता है ।

फलस्वरूप पंच परमेष्ठी के विरह–काल में उनका संसर्ग करने की इच्छा रूप उच्च कोटि के श्रृंगार रस का अनुभव किया जा सकता है । उच्च कोटि का श्रृंगार विषयसुखों की इच्छा रूप तृष्णा का नाश करने वाला होने से शांतरस-से अभिन्न है ।

इस प्रकार जैसे श्रृंगार, शांत रस में परिणत होता है, वैसे ही दूसरे सभी रस उनकी उच्चावस्था में शांत–रस रूप बन जाते हैं । जिस प्रकार विकृत वेष से उत्पन्न हास्य रस, संसार के नाटक में कर्म के संबन्ध से विविध प्रकार के वेष धारण करते एवं विविध प्रकार के नृत्य करते संसारी जीवों की विडंबनाओं को देखकर उत्पन्न होता हास्य रस, यही शांत रस में परिणत हो जाता है । इस प्रकार ये रस संसारी जीवों को इष्टनाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति से होनेवाली चित्तवृत्ति रूप शोक का दर्शन कराकर उच्चकोटि के करुण रस में अभिव्यक्त होते हैं । यह उच्चकोटि का करुण रस शांत रस का ही एक स्वरूप है ।

क्रोधादि षड्रिपुओं द्वारा होनेवाले अपकार से जन्य चित्तवृत्तियों का प्रज्वलन रौद्र रूप होते हुए भी यहाँ शांत रस रूप बन जाता है । विषय कषाय को परास्त कराने तथा दीन–दुःखियों की सहायता करने का उत्साह, श्रेष्ठ वीर–रस रूप बनकर शांत रस में रूपांतरित हो जाता है । कही आंतर शत्रु हमें विवश नहीं करें अतः उनसे भय,

श्रेष्ठ कोटि के भयानक रस में परिणत हो, शांत रस में मिल जाता है। इन्द्रियों के विषयों के प्रति तथा हाड़–मांस के शरीर की गंदगी के प्रति प्रकट होती घृणा उच्चकोटि के बीभत्स रस में बदलकर अन्त में शांत रस का ही एक प्रकार बन जाती है। विश्व की अनन्तता एवं अगाधता, तथा धर्म एवं उसके फल की लोकोत्तरता के साथ अचिन्त्यता के विचार से उत्पन्न होता विस्मय, उच्चकोटि के अद्‌भुत रस में बदल कर शांत रस का ही एक विभाग बन जाता है। इस प्रकार सभी रस उनकी उच्चावस्था में शांत रस में परिणत हो जाते हैं।

शांतरस को प्राप्त किए हुए श्री पंच परमेष्ठी भगवंत इस प्रकार उच्च कोटि की रति, उच्च कोटि का हास, उच्च कोटि का शोक, उच्च कोटि का क्रोध, उच्च कोटि का उत्साह, उच्च कोटि का भय, उच्च कोटि की जुगुप्सा एवं उच्च कोटि के विस्मय आदि उच्च कोटि के शम स्वरूप बन कर शांत रस का अनुभाव करवाते हैं।

सभी प्रकार के उच्च रस उनके अंतिम स्वरूप शांत–रस रूप बन जाते हैं। अतः श्री पंच परमेष्ठी भगवंत केवल शांत रस रूप ही नहीं हो जाते, परंतु उच्च कोटि के श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स एवं अद्‌भुत आदि रसों से भी पूर्ण हैं, ऐसा कहना लेश भी अयुक्त नहीं है।

परमेष्ठी भगवंतों में श्रृंगार रस है, वह नायक–नायिका का नहीं, किंतु अन्तरात्म भाव तथा परमात्म भाव के बीच की रति/प्रीति का है।

हास्य रस है, पर विदूषक के विकृत वेषादि के दर्शन से पैदा हुआ नहीं, किंतु भव नाटक की विडम्बना एवं विषमता के दर्शन से उत्पन्न है।

करुण रस है परन्तु इष्टनाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति से होनेवाली मलिन चित्तवृत्ति वाला नहीं, किंतु इष्टवियोग एवं अनिष्टसंयोग से

सदा संलिप्त तथा शोकातुर जगत् का दुःख, पंक और अज्ञानान्धकार से उद्धार करने के लिए है ।

रौद्र रस है पर बाह्य शत्रुओं से किये अपकार से होनेवाले मन के प्रज्वलन रूप नहीं, किंतु आन्तर शत्रुओं का समूल उच्छेद करने की प्रशस्त मनोवृत्ति रूप है ।

वीर रस है पर वह बाह्य युद्ध को जीतने के उत्साह रूप नहीं, किन्तु लोकोत्तर कार्य में उत्साह धारण करने रूप है ।

भयानक रस है, किंतु वह भी रौद्र दर्शनादि से होनेवाली अनर्थ की शंका रूप नहीं, किन्तु आंतर शत्रु विवश न करें अतः उसकी सावधानी रूप है ।

बीभत्स रस है, पर वह भी बाह्य अशुचि पदार्थों के देखने से नहीं किन्तु अशुचि स्वरूप स्व–शरीर एवं पाँच इन्द्रियों से बीभत्स विषयों की विपाक विरसता के दर्शन से हुई विरक्ति रूप है ।

अद्‌भुत रस है पर वह कोई बाह्य अपूर्व अर्थ के दर्शन से उत्पन्न चित्त के विस्मय रूप नहीं किन्तु आत्मा एवं कर्म की अचिन्त्य शक्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न विश्व की अगाधता एवं अनंतता के दर्शन से उत्पन्न चित्त की प्रसन्नता रूप है ।

परमेष्ठी भगवंतों में रहा शांत रस इस प्रकार विषयों के भेद से अनेक रस रूप बन जाता है तथा उन शुद्ध रसों का आस्वादन करनेवाले परमेष्ठी भगवंतों को किया हुआ नमस्कार भी जिस प्रकार शांत रस का अनुभव करवाता है, वैसे ही उसके साथ अन्य उच्च कोटि के रसों का भी अनुभव करवाता है । **'ध्याता ध्येय स्वरूप बने'** इस न्याय से शांत रस का ध्याता भी शांत बन जाता है ।

ज्यों–ज्यों नमस्कार का ध्यान बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे नमस्कार करनेवाले में अपूर्व कोटि की रति, अपूर्व कोटि का हास, अपूर्व कोटि की करुणा, अपूर्व कोटि की रौद्रता, अपूर्व कोटि की

वीरता, अपूर्व कोटि की भयानकता, अपूर्व कोटि की जुगुप्सा तथा अपूर्व कोटि की अद्‌भुतता प्रकट होती है ।

उनमें से एक भी वस्तु तृष्णा को बढ़ानेवाली नहीं होती, परंतु क्रमशः तृष्णा, वासना तथा इच्छाओं का क्षय कर अपूर्व कोटि की समता का अनुभव करवाती है, आत्मा को शांत रस के अनन्त सागर में निमग्न कर देती है ।

श्री परमेष्ठि–नमस्कार रूप नवकार मंत्र के स्मरण से वैराग्य, संसार–भीरुता, जीवादि तत्त्वों का ज्ञान एवं वीतराग भाव का परिशीलन होता रहता है । पुनः उसके चिंतन से अचिन्त्य शक्ति–युक्त परमेष्ठी के स्मरण के साथ ही पाप की जुगुप्सा एवं धर्म की परमार्थ–परायणता की भावना भी जुड़ी हुई है । संसार की निस्सारता तथा मोक्षमार्ग की सारभूतता का विचार भी श्री नमस्कार महामंत्र के साथ जुड़ा है ।

श्री नमस्कार महामंत्र के स्मरणादि काल से अधिकांशतया पवित्र भूमि का संस्पर्श एवं पवित्र पुरुषों का समागम रहता है । पुनः साधु धर्म के अनुरूप समिति–गुप्ति आदि सदाचारों का पालन तथा श्रावक धर्म के योग्य दान, पूजन तथा अणुव्रत–गुणव्रत का पालन भी होता है । धर्म–श्रवण, शास्त्र–स्वाध्याय, अध्यात्म–चिंता आदि सद्‌गुण भी नमस्कार मंत्र के स्मरण के साथ जुडे होते हैं । यह सब अनुक्रम से शांत रस के विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव बनकर तृष्णाक्षय रूप **'शम'** नाम के स्थायी भाव का चर्वण करवाते हैं । यह चर्वणा पुनः होने से शांत रस का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र के साथ नौ रसों का संबन्ध एवं श्री नमस्कार के साधक को नमस्कार की साधना के द्वारा मिलते नौ रसों के आस्वाद का अपूर्व लाभ यहाँ संक्षेप में वर्णित है । इसका विस्तार बहुश्रुतों से समझना चाहिए ।

8. श्री नमस्कार महामंत्र का अपूर्व माहात्म्य

जिणसासणस्स सारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे नवकारो, संसारो तस्स किं कुणई ।।

श्री जिनशासन का सार तथा चौदह पूर्व का उद्धार रूप नवकार मंत्र जिसके मन में है उसका संसार क्या कर सकता है ? अर्थात् संसार के उपद्रव उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचा नहीं सकते हैं ।

जिस मनुष्य के अंतर में श्री नमस्कार महामंत्र रमण करता हो, जिसने भाव से उसकी शरण स्वीकार की हो, उसे इस संसार के दुःख, लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकते । नमस्कार महामंत्र रूप नौका में बैठकर आत्मा निर्विघ्न रूप से संसार–सागर से पार पहुँच सकती है ।

नवकार मंत्र रूपी केसरीसिंह जिसके चित्त में क्रीड़ा कर रहा हो, उसे संसार के उपद्रव रूपी हाथी कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते । चारों गतियों के भयानक दुःख उससे दूर–दूर भागते हैं । श्री नमस्कार महामंत्र महाशास्त्र माना जाता है । चौदह पूर्वधर महर्षि भी जीवन की अंतिम वेला में जब शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है एवं चौदह पूर्व का स्वाध्याय करने में असमर्थ बन जाते हैं, तब श्री नमस्कार महामंत्र की शरण स्वीकार कर अंतिम श्वास तक उसका स्वाध्याय करते हैं, क्योंकि यह प्रभावक मंत्र भवान्तर में बहुलतया ऊर्ध्वगति प्रदान करता है ।

ऐसा प्रभावक मंत्र अपने मन में क्यों नहीं उतरता ? कारण स्पष्ट है कि हम श्रावककुल में जन्मे हैं और जन्म से ही हमें महामंत्र मिल गया है । मूल्यवान वस्तु बिना मूल्य के मिल गई । अर्थात् इसका मूल्य मन में रहा नहीं ।

गंगातटवासी के लिए गंगाजल का क्या मूल्य ! पर दूर बसनेवाले गंगाजल के लिए तरसते हैं, प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं । हम

भी आसानी से मिले मंत्र का मूल्य समझ नहीं सकते अतः उसकी सच्ची आराधना के लाभ से वंचित रह जाते हैं ।

मूल्यवान वस्तु मिलना दुर्लभ है । मिलने के बाद सँभालना उससे भी कठिन है, परंतु यदि उस वस्तु का माहात्म्य, उसकी महत्ता समझ में आ जाए तो उसे सँभालने में जरूर मेहनत की जाती है । दुष्काल के समय में मनुष्य धान्य का महत्त्व जानता है अतः उसे सँभालने में बराबर मेहनत करता है । हमने भी जो महामंत्र प्राप्त किया है उसे यदि टिका कर रखना हो तथा उसका यथार्थ लाभ लेना हो, तो उसका माहात्म्य अवश्य जानना चाहिए ।

नमस्कार महामंत्र, मंत्राधिराज है । सभी शास्त्रों में उसे प्रथम स्थान प्राप्त है । संसार रूपी रण–क्षेत्र में कर्म रूपी शत्रुओं के समक्ष लड़कर उन पर विजय प्राप्त करने का यह अमोघ अस्त्र है । नवकार मंत्र साधकों को आत्म–शत्रुओं पर विजय दिलाता है । अन्य भी मंत्रों की उत्पत्ति नवकार महामंत्र में से होती है । परंतु उन मंत्रों में पंच परमेष्ठी अधिकांशतया गुप्त रूप से हैं । नवकार मंत्र तो स्पष्ट रूप से पंच परमेष्ठियों का वाचक है । पहले उपद्रव निवारण हेतु अनेक महामंत्र रचे हुए थे । **'उवसग्गहरं'** स्तोत्र का स्मरण करते ही देवता सेवा में हाजिर रहते थे । इस स्तोत्र का ऐसा माहात्म्य था । लोगों ने उसका दुरुपयोग करना शुरू किया एवं क्षुद्र कार्यों के लिए देवों को बुलाकर कष्ट देना शुरू किया । इस हेतु स्तोत्र की कुछ गाथायें कम कर दी गई । **स्तोत्र की प्रत्येक गाथा में एक परमेष्ठी अन्तर्निहित हैं, समाविष्ट हैं । इसी कारण से यह स्तोत्र प्रभावशाली बना एवं इसका खूब प्रचार हुआ ।** नमस्कार महामंत्र में इन पाँचों परमेष्ठियों को प्रकट रूप से नमस्कार किया गया है अतः यह महान् प्रभावक है ।

इस महामंत्र की उत्तमता का पार नहीं । उत्तम पुरुष उसकी आराधना कर सकते हैं । देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकी में उत्तम

जीवों को इसकी प्राप्ति होती है । इस उत्तम मंत्र को प्राप्त करने हेतु हमें भी उत्तम बनना चाहिए । यदि हमें नवकार महामंत्र साधना है, तो गुणप्राप्ति के मार्ग में एक कदम आगे बढ़ना चाहिए । अर्थात् मिथ्यादृष्टिपने से सम्यक्दृष्टिपने में आना चाहिए । यदि अपात्र को शास्त्र मिल जाए तो वह शास्त्र, शस्त्र बनकर उसका ही अहित कर देता है । अयोग्य आत्मा के लिए यह मंत्र लाभप्रद नहीं होता । कल्पवृक्ष के काल में अथवा कलियुग के समय में अथवा किसी भी समय में यह मंत्र योग्य आत्माओं को समान फल प्रदान करता है ।

संसार ही दुःख का मूल है । ऐसे संसार में से मुक्त बनकर शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए नमस्कार महामंत्र की शरण लेना आवश्यक है । असार संसार में नमस्कार महामंत्र सार है, परंतु इस सारभूत नवकार को साधने हेतु अपनी पापात्मा पर तिरस्कार प्रकट होना चाहिए । नवकार के नव पदों में और अड़सठ अक्षरों में मन गूँथ देना चाहिए, पर अपना मन तो बंदर जैसा चंचल है । ज्यों–ज्यो मन को इस मंत्र के साथ गूँथने का प्रयत्न करते है, त्यों–त्यों वह दूर भागता जाता है । इस पर यदि प्रयत्न साधा जाए, तो किसी–न–किसी दिन इस मंत्र के अड़सठ अक्षरों में मन गूँथा जा सकता है ।

इस नमस्कार महामंत्र में रहे पंच परमेष्ठी महिमावंत हैं, अतः अपने लिए **'नमो'** पद का अत्यधिक महत्त्व है । **'विषयप्राधान्यात् '**अर्थात् विषय की प्रधानता से नमस्कार का विषय (Object) सर्वश्रेष्ठ होने से इसका फल भी बहुत अधिक है ।

हम जितने प्रेम से अपने आप का, अपने माता–पिता का अथवा प्रियतम का नाम सुनते हैं, सुनते ही रोमांच का अनुभव करते हैं, उससे भी अधिक प्रेम या रोमांच परमेष्ठियों के नाम और गुण सुनते होना चाहिए । जहाँ प्रेम होता है, वहाँ रोमांच होता है । जहाँ

स्वार्थ होता है, वहाँ प्रेम जगता है । माता–पिता का पुत्र के प्रति प्रेम इसलिए होता है कि इसमें उनका स्वार्थ रहा हुआ है कि पुत्र बड़ा होकर उन्हें आराम देगा । वैसे ही नवकार मंत्र में कुछ स्वार्थ उत्पन्न हो, तो उसके प्रति प्रेम जागृत हो सकता है । वह स्वार्थ भौतिक नहीं पर आध्यात्मिक होता है–ऐसा समझना चाहिए । कर्म–संबन्ध से प्राप्त होने वाले पौद्गलिक सुख, क्षणिक हैं । जिस प्रकार मनुष्य विष्ठा की तरफ नहीं देखता, वैसे महापुरुष भी इन सुखों की तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते हैं ।

ऐसे सांसारिक सुखों के लाभ हेतु यदि नवकार को गिना जाये तो सच्चा नवकार हम से दूर ही रहेगा, क्योंकि उसे खरे भाव से गिना नहीं गया है । उसका महत्त्व जाने बिना ही गिना गया है, अतः मूर्ख के हाथ में रही तलवार की तरह कहीं वह हमारा नाश न कर दे ! **'मुख में राम बगल में छुरी'** के सिद्धांत सत्य धर्म की आराधना में कभी नहीं चल सकेंगे । यदि पाँच इन्द्रियों के विषयों का लक्ष्य हो, तो मोक्ष मिलना कदापि संभव नहीं ।

संसार में पाँच विषयों का नाश नहीं किया जा सकता है, पर उनकी तरफ से अपने चित्त को मोड़ा जा सकता है एवं विषयों के प्रति मोह तथा वासना का नाश किया जा सकता है । पंच परमेष्ठियों का ध्यान इस हेतु अमोघ साधन है । परमेष्ठियों की आत्माओं का जो स्वरूप है, उस मूल स्वरूप को पहिचान कर महामंत्र का जाप करना चाहिए । यही जाप हमें अपने शुद्ध स्वरूप की पहिचान करवा सकेगा ।

पार्श्वनाथ भगवान अपने पूर्व के छठे भव में एक तपस्वी महामुनि थे । एक समय वन में काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) ध्यान में थे । इतने में वहाँ एक क्रुद्ध भील आ पहुँचा । उसके क्रोध का कारण था कि मुनि उसकी तरह शिकार नहीं करते थे । इस प्रकार की दृष्टि वाले जीव भी संसार में होते हैं । क्रोध के आवेश में भील ने मुनि को बाण से

बींध दिया । संसार में ऐसे खून का उस समय कौन न्याय करता ? परंतु कर्म रूपी बड़ा न्यायाधीश बैठा है । उन दोनों को उसने कर्मानुसार फल प्रदान किया । भील मरणोपरांत मुनि–हत्या के कारण सातवीं नरक में गया और नवकार मंत्र का जाप जपते हुए मुनि मरने के बाद मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र के रूप में देव बने । नवकार मंत्र का ऐसा साक्षात्कार करने के कारण पार्श्व प्रभु ने अंतिम भव में काष्ठाग्नि में जलते हुए सर्प के जीव को बचाया और नवकार सुनाकर धरणेन्द्र बनाया । ऐसे परम पवित्र नवकार मंत्र की आराधना कर अपने भावी जीवन के लिए हमें तैयार हो जाना चाहिए ।

शास्त्रकार कहते हैं कि नमस्कार महामंत्र धनप्राप्ति भी करवाता है । नवकार के प्रभाव से शिवकुमार का मृत्यु–भय टल गया और ऊपर से उसे सुवर्ण पुरुष प्राप्त हुआ । जिससे सोने का एक जिनमंदिर बनवाया गया । इस महामंत्र के प्रभाव से फणिधर सर्प फूलों की माला बन जाता है । उसका साक्षात्कार श्रीमती के जीवन में देखने को मिलता है । इस मंत्र के प्रभाव से सती श्रीमती का अनिष्ट टल गया एवं पति की प्रीति प्राप्त हुई । यह मंत्र जहाँ भी है, वहाँ सुख–शांति, संपत्ति, आनंद, मंगल तथा कल्याण हो रहा है । इससे आरोग्य भी प्राप्त होता है, क्योंकि इसके जाप में मग्न रहने से आरोग्य में बाधक मानसिक वृत्तियाँ अपने आप दूर हो जाती हैं ।

अमृत, सुवर्ण पात्र में ही रह सकता है, वैसे ही नवकार मंत्र रूपी अमृत, सुवर्ण पात्र के समान उत्तम आत्मा में ही रह सकता है । इक्षुदण्ड के टुकड़ों को अधिक चबाया जाए, तो वे स्वादिष्ट लगते हैं, वैसे ही नवकार रूपी गन्ने के दण्ड के पद रूपी टुकड़े एवं अक्षरों को ज्यों–ज्यों श्रद्धा, भक्ति तथा बहुमानपूर्वक एकाग्रचित्त से गिनते हैं, त्यों–त्यों उसमें से प्रकट एक विलक्षण माधुर्य का आत्मा अनुभव करती है ।

जिस प्रकार भ्रमर मधु की अभिलाषा से दिनभर पुष्पों पर भटकता है और अंत में एक पुष्प में ऐसा लीन हो जाता है कि उस पुष्प के बंद होने पर भी मधुपान बंद कर उड़ नहीं सकता है, वैसे ही अपने मन–भ्रमर को नवकार मंत्र के अक्षर रूपी पुष्पों पर यदि उड़ने दिया जाए, तो निश्चय ही वह एकाध पद में स्थिर होकर सच्चे मकरन्द का आस्वाद कर सकेगा ।

नवकार मंत्र के अक्षरों को जगत् में प्रकाश प्रदान करनेवाली रत्न ज्योति के समान मानकर स्मरण करना चाहिए । उसके प्रत्येक अक्षर और उसमें निहित भाव को महामंत्र देवता मानकर उसका आराधन किया जाए, तो स्वर्ग एवं मोक्ष दूर नहीं ।

इस मंत्र में स्थित पंच परमेष्ठियों के स्वरूप को पहिचान कर उनके गुणों की अपने स्वरूप के साथ तुलना करनी चाहिए । पंच परमेष्ठियों में निहित ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तप आदि गुण ही अपनी आत्मोन्नति के सच्चे साधन हैं और ये ही अपने परम साध्य हैं। सर्व मंगलों में प्रथम मंगल, सर्व कल्याण का परम कारण, देव, दानव और उत्तम पुरुषों को सदैव स्मरणीय नमस्कार महामंत्र यदि हमारे हृदय में सदैव रमण करता रहे तो हम शीघ्र ही आत्मस्वरूप को पहिचान कर उसे प्राप्त कर सकते हैं ।

हाड़-मांस आदि से मानव शरीर बना है । मानव की शोभा प्रिय व सत्य वाणी है । जीभ एक है, कार्य दो हैं । जीभ से भोजन करने से अपना ही पेट भरता है, जब कि जीभ से हितकारी व प्रिय वचन बोलने से महान् परोपकार हो सकता है । प्रभु ने जगत् के उद्धार के लिए ही अपनी जीभ का उपयोग किया है । जीभ कटने से जो नुकसान नहीं होता है, वह नुकसान जीभ से असत्य भाषण करने से होता है ।

9. प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. शास्त्रों में नवकार को पंच मंगल अथवा श्री पंच मंगल महाश्रुत स्कंध रूप में कहा गया है, पर मंत्र रूप में नहीं कहा गया है ।

उत्तर – कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने स्व–रचित योगशास्त्र में परमेष्ठिनमस्कार को श्रेष्ठ मंत्र रूप में प्रतिपादित किया है–

तथा पुण्यतमं मंत्र, जगत्त्रितय–पावनम् ।
योगी पंचपरमेष्ठी–नमस्कारं विचिन्तयेत् ।।

अर्थ :– तीनों जगत् को पवित्र करनेवाले पवित्रतम श्री पंच परमेष्ठिनमस्कार मंत्र का योगी पुरुषों को ध्यान करना चाहिए ।

(–योगशास्त्र प्रकाश–8)

पुनः आचार्य श्री सिद्धसेनसूरि आठ प्रकाश वाले स्व–रचित **'श्री नमस्कार माहात्म्य'** में कहते हैं–

वश्य–विद्वेषण–क्षोभ–स्तंभ–मोहादिकार्यसु ।
यथाविधिप्रयुक्तोऽयं मंत्रः सिद्धिं प्रयच्छति ।।

अर्थ :– विधिपूर्वक प्रयुक्त यह मंत्र वशीकरण, विद्वेषण, क्षोभण, स्तम्भन, मोहन आदि कर्मों के विषय में सिद्धि प्रदान करता है ।

(–श्री नमस्कार माहात्म्य प्रकाश–6)

प्रश्न 2. नवकार जैसे पवित्र मंत्र द्वारा मारण, मोहन, वशीकरणादि क्षुद्र क्रियाओं की सिद्धि कहाँ तक उचित मानी जा सकती है ?

उत्तर – क्रियाओं की अल्पता अथवा महत्ता उद्देश्य से मापी जा सकती है । वैषयिक स्वार्थ आदि के कारण वशीकरणादि क्रियाएँ क्षुद्र हैं । शासनसेवा अथवा धर्मरक्षा आदि उच्च हेतुओं से होने वाली क्रियाएँ क्षुद्र नहीं पर उच्च हैं । उत्तम मंत्र का उपयोग अधम कार्य हेतु

कोई करे, तो उसकी हानि उसे होती ही है, परंतु मंत्र तो अपना कार्य करता ही है । यदि न करे तो मंत्र नहीं गिना जा सकता एवं उसमें अचिन्त्य शक्ति नहीं मानी जा सकती ।

प्रश्न 3. क्या कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि के पूर्व के समर्थ आचार्यों ने नवकार को मंत्र रूप में कहा है ?

उत्तर – समर्थ शास्त्रकार एवं टीकाकार आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने स्वरचित स्वोपज्ञ टीकायुक्त श्री **'योगबिन्दु'** ग्रंथ के पूर्वसेवा अधिकार में कहा है–

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युंजयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः।।

अर्थ :– एक मास के उपवास को तपोधनी–महर्षियों ने मृत्युघ्न नाम का तप कहा है और मृत्युंजय नामक मंत्र के जाप सहित उसे किया जाए, तो वह सिद्धि का कारण बन जाता है । इस श्लोक की टीका में ग्रंथकार महर्षि ने श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार को मृत्युंजय नाम का मंत्र कहा है ।

प्रश्न 4. मूल आगम में नवकार को मंत्र रूप में बताया गया हो तो उसका प्रमाण दीजिए ।

उत्तर – श्री जैन शासन में चौदह पूर्व तथा समग्र द्वादशांगी श्रुत–धर्मरूप होने से परम–मंत्रमय है । श्रुतज्ञान का उद्देश्य ही मोह और मिथ्यात्व रूपी विष का प्रभाव दूर करना है । चिरन्तनाचार्य विरचित श्री **'पंचसूत्र'** के पहले सूत्र में श्रुतधर्म की स्तुति करते हुए कहा गया है कि–

तहा सुरासुरमणुअपूईओ, मोहतिमिरंसुमाली, रागदोसविस परममंतो....।

अर्थ :– सुर, असुर और मनुष्यों से पूजित मोह रूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य समान और रागद्वेष रूपी विष को उतारने हेतु परममंत्र तुल्य (श्रुतधर्म की मुझे शरण प्राप्त हो)

उसी ग्रन्थ के चौथे सूत्र में साधु धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि–**सुस्सुसाइगुणजुत्ते तत्ताभिनिवेसा विहिपरे परममंतोति अहिज्जइ सुत्तं..... ।**

शुश्रूषादि बुद्धि के आठ गुण युक्त साधु को तत्त्वाभिनिवेश से विधि में तत्पर बन **'यह परम मंत्र है'**, ऐसा मानकर सूत्र का अध्ययन करना चाहिए ।

इस प्रकार समग्र श्रुत मंत्रमय है और नवकार समग्र श्रुत का सार और चौदह पूर्व का उद्धार है अतः उसकी मंत्रमयता में कुछ भी शंका नहीं रहती । जिस मंत्र में भाव–विष को उतारने का सामर्थ्य हो, वह द्रव्यविष को भी आसानी से उतार सकता है और जिससे मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि हो, वह संसार में देव–मनुष्यादि के सुख प्रदान करे, तो उसमें कोई आश्चर्य ही नहीं । नवकार द्वादशांगी का सार है अतः मंत्रमय है । उसके प्रत्येक अक्षर में भाव–विष के साथ द्रव्यविष को उतारने का सामर्थ्य रहा है । सम्यक्श्रुत भावमंगल का कार्य करता है और जिसमें भाव–मंगल का कार्य करने की शक्ति हो, उसमें द्रव्यमंगल का कार्य करने की शक्ति तो अदृश्य रूप में रहती ही है । इसी से **'श्री दश वैकालिक', 'श्री उत्तराध्ययन'** और **'आवश्यक'** आदि सूत्रों की गाथाओं, पदों और अक्षरों में सुवर्णसिद्धि, रत्नसिद्धि और रससिद्धि आदि सिद्धियाँ तथा आकाशगामिनी आदि विद्याएँ रही हैं ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया हुआ है, उसके जानकार जान सकते हैं ।

श्री नवकार द्वादशांगी का सार है अतः मंगलमय और मंत्रमय तो है ही, साथ ही मंगल और मंत्र के सभी कार्य उससे सिद्ध होते हैं । यह बात **लोगस्स, नमुत्थुणं** और **उवसग्गहरं** आदि के कल्पों के साथ नवकार के कल्पों से भी सिद्ध होती है । **दसवें विद्याप्रवाद** नाम के पूर्व में अनेक विद्याएँ और मंत्र रहे हुए हैं, वैसे ही द्वादशांगी के उद्धार रूप श्री नवकार में भी अनेक विद्याएँ और मंत्र छिपे हुए हैं । वे साधक को ही प्रकट होते हैं ।

अन्य मंत्रों में जहाँ मंत्रमयता और मंत्रविद्या से सिद्ध होने वाले वशीकरणादि कार्य करने की शक्ति है वहीं श्री नवकार में मंत्रमयता के साथ मंगलमयता और मंत्र से सम्भव कार्यों को करने की शक्ति भी है । यह नवकार की विशेषता है । कहा है कि–

यदि तावदसौ मंत्रः, शिवं दत्ते सुदुर्लभम् ।
ततस्तदनुषंगोत्थे, गणना का फलान्तरे ।।

अर्थ :– यदि यह नवकार मंत्र अतिदुर्लभ मोक्ष को भी प्रदान करता है, तो उसके अनुसंग से प्राप्त होने वाले दूसरे फलों का तो कहना ही क्या ? अर्थात् अवश्य प्रदान करता है ।

इन उदाहरणों से यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है कि नवकार को कब से एवं किस आचार्य से मंत्र रूप में गिना गया है ? नवकार मंगलमय तो है ही, पर मंत्रमय भी है । अतः उसके आराधकों को मंत्र से होने वाले कार्यों की सिद्धि हेतु अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है । कहा है कि–

उच्छेदं परविद्यानां निमेषार्धात् करोत्यसौ ।
क्षुद्रात्मनां परावृत्तिवेधं च विधिना स्मृतः ।।

अर्थ :– विधिपूर्वक स्मरण किए हुए इस मंत्र में दूसरों के द्वारा प्रयोग की गई विद्याओं का अर्ध पल मात्र में उच्छेद करने तथा तुच्छात्माओं द्वारा हो रहे उपद्रवों का परावर्तन करने का सामर्थ्य रहा हुआ है ।

इस प्रकार नवकार से उभय प्रकार के कार्यों की सिद्धि होती है अतः उसे पूर्वाचार्यों ने मंगलमय और मंत्रमय कहा है और इसी प्रकार हमें उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए ।

पुनः पूर्वधरों की प्रत्येक रचना मंगलमय एवं मंत्रमय है । दशपूर्वी और चौदहपूर्वी अवश्यमेव सम्यग्दृष्टि होते हैं । श्री नवकार को अर्थ से सभी तीर्थंकरों एवं सूत्र से सभी गणधर भगवंन्तों ने माना है । अतः वह अर्थ से श्री तीर्थंकरों की तथा सूत्र से गणधरों की रचना

है । गणधर केवलज्ञानी होते हैं । इसी से उनकी रचना मंगलमय तो होती ही है, साथ ही यदि वह मंत्रमय भी हो, तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं ।

नवकार तो सर्वश्रुत का सार है अतः उसकी मंगलमयता और मंत्रमयता घनीभूत बनी हुई है । यदि अन्य शास्त्रों को समुद्र कहा जाए तो नवकार उसमें से निकला अमृत है । यदि अन्य शास्त्रों को क्षीर रूप में कहा जाए, तो नवकार नवनीत तुल्य है । अन्य शास्त्रों को रोहणाचल अथवा मलयाचल की उपमा दी जाय, तो नवकार उसमें से उत्पन्न हुआ वज्ररत्न अथवा अमूल्य बावना (रक्त) चंदन है ।

प्रश्न 5. विद्यमान आगम सूत्रों में श्री नवकार को स्पष्ट रूप से मंत्रमय कहा गया है ?

उत्तर – नवकार की मंत्रमयता को सिद्ध करने वाला प्राचीन आगम–प्रमाण **महानिशीथ सूत्र** है । उसमें कहा गया है–

नमो अरिहंताणं सत्तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थपसाहणं सव्वमहामंतपवरविज्जाण परमबीअभूअं ।

अर्थ :– 'नमो अरिहंताणं' सात अक्षर के परिमाण वाला, अनन्तगम, पर्याय और अर्थ को प्रकर्ष साधने वाला तथा सर्व महामंत्रों और प्रवर विद्याओं का परम बीजभूत है ।

इस बात का समर्थन करने वाली एक प्राचीन गाथा यहाँ दी जा रही है–

पणव–हरिया–रिहा इअ मंतह बीआणि सप्पहावाणि ।
सव्वेसिं तेसिं मूलो इक्को नवकारवरमंतो ।।

अर्थ :– प्रणव (ओंकार), माया (ह्रींकार) और अर्हं आदि प्रभावशाली मंत्र बीज हैं, उन सबका मूल एक प्रवर नवकार है । अर्थात् ॐ ह्रीं अर्हं आदि मंत्र बीजों के मूल में श्री नवकार मंत्र स्थित है । नवकार के प्रथम पद का विधिपूर्वक जाप करने वाले को आज भी यह अनुभवसिद्ध है ।

इस एवं अन्य प्रमाणों को देखते हुए नवकार की मंत्र रूप में कल्पना आधुनिक नहीं, पर प्राचीन है अथवा अनादिकालीन है । मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति भी श्री नवकार की मंत्रमयता को सिद्ध करती है ।

'मननेन त्रायतेऽसौ इति मंत्रः'

जिसका मनन करने से अथवा पुनः–पुनः उच्चारण करने से रक्षण होता है, वह मंत्र है । नवकार के पदों का पुनः–पुनः उच्चारण अथवा मनन करने से पाप रूपी विष का निवारण और धर्म रूपी मंगल का आगमन होता है । इसी से भवभ्रमण रुक जाता है ।

'मननात् त्रायतेऽसौ मंत्रः'

यह व्युत्पत्ति भी श्री नवकार की मंत्रमयता को सिद्ध करती है । नवकार के जाप के द्वारा मन की संकल्प–विकल्प रूप अशुभ मनन क्रिया शांत हो जाती है । उससे आत्मा का अशुभ कर्मबंध से रक्षण होता है । इस प्रकार व्युत्पत्ति, रूढ़ि और स्वानुभव आदि प्रमाणों से नवकार की मंत्रमयता सिद्ध होती है ।

प्रश्न 6. बीजाक्षरों के बिना भी कोई मंत्र, मंत्र बन सकता है ?

उत्तर – मंत्रशास्त्र में अनेक प्रकार के मंत्र बताए गए हैं । उनमें बीजाक्षरों को भी मंत्र माना है । इसके उपरांत एकाक्षरी तथा अनेकाक्षरी मंत्रों को भी मंत्र रूप में वर्णित किया गया है । उदाहरणतया–षडक्षर मंत्र, षोडषाक्षर मंत्र तथा कुछ अक्षरों से अधिक संख्या वाले मंत्रों को–**मालामंत्र** रूप में भी बताया गया है । तदुपरांत देवताओं के नाम और उनकी स्तुतियों को भी मंत्र रूप में गिना गया है । श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने **योगबिन्दु** नाम के ग्रंथरत्न में कहा है कि–

जपः सन्मंत्रविषयः, स चोक्तो देवतास्तवः ।
दृष्टः पापापहारीऽस्माद् विषापहरणं यथा ।। 1।।

अर्थ :– उसे ही जप कहा जाता है कि जिसका विषय मंत्र हो और उसे ही देवतास्तुति रूप कहा गया है । अन्य मंत्रों से जिस प्रकार

विषापहार होता है वैसे ही देवता–स्तुति मंत्र से पापापहार होता देखा गया है । **–श्री हरिभद्र सूरिकृत–योगबिन्दु**

प्रश्न 7. नमस्कार मंत्र में कोई बीजाक्षर क्यों नहीं है ? क्या महामंत्रों में उनकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर – शास्त्रों में कहा गया है कि प्रभावशाली बीजाक्षरों की उत्पत्ति नमस्कार मंत्र से हुई है । नमस्कार मंत्र में बीजाक्षर गर्भित रीति से निहित हैं । ऐसा नियम नहीं है कि सभी मंत्रों में बीजाक्षर प्रकट ही होने चाहिए । कहा है कि–

पणव–हरिया–रिहा, इअ मंतबीयाणि सप्पहावाणि ।
सव्वेसिं तेसिं मूलो, इक्को नवकार वरमंतो ।।1।।

अर्थ :– प्रणव–माया–अर्हं आदि प्रभावशाली मंत्रबीजों का उत्पत्ति स्थान एक नवकार ही श्रेष्ठ मंत्र है ।।1।।

प्रश्न 8. नमस्कार के आदि अक्षरों में 'असिआउसा' गूँथे हुए हैं, क्या उनको बीजाक्षर माना जा सकता है ?

उत्तर – नमस्कार के आदि अक्षरों से बना **'असिआउसा'** को स्वतंत्र मंत्र माना गया है । उन्हें बीजाक्षरों के रूप में वर्णित किया गया हो, इसकी जानकारी नहीं है ।

प्रश्न 9. नमस्कार के आदि अक्षरों से 'असिआउसा' बनता है, पर ॐ किस प्रकार बनता है ? सिद्धों का 'सि' नहीं लेने पर अशरीरी शब्द का 'अ' लिया जाता है अर्थात् वह मूल शब्द नहीं, पर पर्याय शब्द हुआ । क्या इस प्रकार पर्याय शब्द उचित गिना जाता है ?

उत्तर – ॐकार लोक में परमेश्वर वाचक मंत्र के रूप में प्रसिद्ध है और यह माना जाता है कि उसके उच्चारण के द्वारा ईश्वर की उत्कृष्ट स्तुति होती है । संसार में ॐकार की तरह जैनागमों में महामंत्र रूप स्थान नवकार को प्राप्त है । अतः ॐकार द्वारा परमेश्वर की तरह पाँचों परमेष्ठियों का स्मरण नवकार द्वारा संभव है । यह बात बताने के लिए आदि अक्षरों की संधि कर उसे सिद्ध कर बताया गया

है । संधि करने में सिद्ध और साधु के पर्याय शब्द अनुक्रम से **'अशरीरी'** और मुनि को लेकर उसके आदि अक्षर **'अ'** और **'म्'** को लिया गया है । ऐसा कर केवल शब्द से नहीं, पर अर्थ से ॐकार पंच परमेष्ठि–वाचक सिद्ध किया गया है । इस प्रकार अर्थ को प्रधान बनाकर पर्यायवाचक शब्द की संधि करने में मंत्रशास्त्र की दृष्टि से कोई विरोध नहीं होता । शब्द–शास्त्र की दृष्टि से **गौण–प्रधान** न्याय अर्थात् किसी स्थान पर शब्द की तो किसी स्थान पर अर्थ की प्रधानता की उपयोगिता होती है ।

प्रश्न 10. मंत्र की आराधना से देवता प्रसन्न होकर काम करते हैं । इस मंत्र की आराधना से कौन–से देव प्रसन्न होते हैं ?

उत्तर – श्री सिद्धसेनसूरिजी रचित संस्कृत **'शक्रस्तव'** के उपसंहार में कहा है कि–इस प्रकार अरिहंत परमात्मा की स्तुति द्वारा चारों निकायों के देव प्रसन्न होते हैं और पाँचों प्रकार के भूत अनुकूल बनते हैं । दुष्टों के क्षय और शिष्टों की जय तथा ऐहिक आमुष्मिक अनेक प्रकार के फल मिलते हैं । अंत में कहा है जिनस्तुति परम मंत्र रूप है । अतः उनके स्मरण के द्वारा आराधकों को सभी प्रकार की अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं ।

प्रश्न 11. जहाँ देवता के प्रसन्न हुए बिना ही काम होता है, वहाँ कौन–सा नियम काम करता है ?

उत्तर – उसके पीछे वस्तुस्वभाव का नियम काम करता है। कहा है कि–

वत्थुसहावो एसो, अउव्वचिंतामणि महाभागो ।
थोऊणं तित्थयरे, पाविज्जइ बोहिलाभोत्ति ।।

अर्थ :– यह वस्तु का स्वभाव है कि अचिन्त्य चिंतामणि महाभाग तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति करने से बोधिलाभ की प्राप्ति होती है ।

पुनः कहा है कि–

भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा ।
गुणपगरिसबहुमाणो कम्मवणदवाणलो जेण ।।

अर्थ :– जिनेश्वरों की भक्ति द्वारा पूर्व संचित कर्म विनष्ट होते हैं। गुण प्रकर्ष का बहुमान, कर्म रूपी वन को जलाने हेतु दावानल के समान है।

प्रश्न 12. नमस्कार महामंत्र से क्या चमत्कार संभव है ?

उत्तर – यहाँ चमत्कार का अर्थ है, इसी जन्म में मिलने वाले फल यदि यह अर्थ लिया जाए, तो नमस्कार की विधिपूर्वक आराधना से इस लोक में अर्थ, काम, आरोग्य और अभिरति आदि प्राप्त होते हैं। उसके प्रत्येक फल हेतु एक कथानक श्री **'भद्रबाहुस्वामीजी'** ने श्री **'आवश्यक निर्युक्ति'** के मूल में कहा है –

इह लोए अत्थ कामा, आरुग्ग अभिरईअ निप्फत्ती ।
सिद्धी अ सग्गसुकुल पच्चायाई य परलोअे ।।

अर्थ :– अर्थ की प्राप्ति से यहाँ शिवकुमार को सुवर्ण पुरुष की प्राप्ति, कामसुख से सती श्रीमती के लिए सर्प की फूलमाला बनना और पति का प्रेम प्राप्त करना, आरोग्य में जिनदास सेठ का उदाहरण और अभिरति में भील एवं भीलनी का कथानक लिया जा सकता है। वर्तमान काल में भी नमस्कार के आराधकों को अपनी श्रद्धा एवं भक्ति के प्रमाण में प्रत्यक्ष फल मिलने के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। उत्कृष्ट श्रद्धा और भक्ति से नवकार गिनने वाले को अभी भी तत्काल स्व अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का निवारण होता है। कहा है कि–

थंभेई जलं जलणं चिंतियमित्तोवि पंच नवकारो ।
अरि–मारी–चोर–राउल–घोरुवसग्गं पणासेइ ।।

अर्थ :– चिंतन करने मात्र से पंच नवकार (पंच परमेष्ठी–नमस्कार) जल और अग्नि को रोक देता है। शत्रु, महामारी, चोर तथा राज्य संबन्धी घोर विघ्नों का नाश भी यह मंत्र करता है।

प्रश्न 13. श्री मानतुंगाचार्यजी ने नमस्कार से क्या चमत्कार किए ?

उत्तर – महाप्रभावक **श्री भक्तामर स्तोत्र** के रचयिता **श्री**

मानतुंगसूरजी ने 44 श्लोकों द्वारा 44 सॉकलों के बंधन तोड़ दिये थे । आज भी भक्तामर स्तोत्र का कल्पानुसार प्रत्येक श्लोक का मंत्र और विद्या का विधिपूर्वक आराधन करने वाले को चमत्कारिक रीति से फल मिलते हैं । उदारहणतया श्री भक्तामर के पाँचवें काव्य का प्रतिदिन 108 बार 6 मास तक अखंड ब्रह्मचर्यपूर्वक स्मरण करनेवाले को वाग्लब्धि और बुद्धि की वृद्धि होती अनुभव में आती है ।

प्रश्न 14. क्या श्री नमस्कार की ध्यानविधि आगम में बताई गई है ?

उत्तर – ध्यानविधि के ग्रंथों में श्री नवकार मंत्र की ध्यानविधि पाई जाती है और वह आगमोक्त है । श्री **योगशास्त्र** आदि ग्रंथों में कहा गया है कि **'विद्याप्रवाद'** नाम के दसवें पूर्व से **श्री वज्रस्वामी** आदि पूर्वधर महापुरुषों ने उस विधि को उद्धृत किया है ।

प्रश्न 15. श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में नमस्कार की ध्यानविधि के संबन्ध में मतैक्य है कि मत–भिन्नता ?

उत्तर – श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की ध्यानविधि के मूल में कोई खास भेद दिखाई नहीं देता । आचार्य **शुभचन्द्राचार्यकृत 'ज्ञानार्णव'** और कलिकालसर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्रसूरि** कृत **'योगशास्त्र'** में पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों का स्वरूप समान रूप से बताया गया है । इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों में ध्यानविधि समान रूप से प्रचलित है ।

ध्यान के अधिकारी पुरुषों के लक्षण आदि भी दोनों सम्प्रदायों में समान रीति से बताये गये हैं, फिर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ध्यानविधि के लिए साधक की योग्यता पर विशेष भार डाला गया है और प्रमत्तगुणस्थानक पर्यन्त निरालम्बन ध्यान का **'श्री गुणस्थान क्रमारोह'** आदि ग्रंथों में स्पष्ट निषेध किया गया है । मात्र उसकी भावना भावित करने का आदेश दिया गया है । दिगम्बर सम्प्रदाय के **'परमात्म–प्रकाश'** आदि ध्यान ग्रंथों में निरालम्बन ध्यान पर विशेष ध्यान दिया जाता देखा जाता है और शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान के लिए बारम्बार प्रेरणा देखी जाती है ।

प्रश्न 16. चूलिका फलश्रुति है यह निर्विवाद है, उसकी गणना मंत्र रूप में किस प्रकार हो सकती है ? क्या इस प्रकार की दूसरी फलश्रुति की गणना मंत्र रूप में होती है ?

उत्तर – जिस प्रकार पर्वत का शिखर पर्वत से अलग नहीं होता अथवा जिस प्रकार चोटी मस्तक से अलग नहीं होती, वैसे ही मंत्र की चूलिका, मंत्र से भिन्न नहीं होती । **'श्री दशवैकालिक'** और **'श्री आचारांग सूत्र'** की चूलिकाएँ जिस प्रकार मूल ग्रंथों से भिन्न नहीं, वैसे ही श्री नमस्कार महामंत्र की चूलिका भी श्री नमस्कार महामंत्र से अलग नहीं ।

श्री महानिशीथ सूत्र में श्री नमस्कार महामंत्र को आठ अध्ययनात्मक पंच–मंगल–महाश्रुत **स्कंध** कहा गया है । उसमें पाँच अध्ययन मूल मंत्र के और तीन अध्ययन चूलिका के मिलाकर आठ अध्ययन कहे गये हैं ।

'लोगस्स' सूत्र में भी फलश्रुति के साथ ही चतुर्विंशति स्तवन की रचना है । लोगस्स के कल्प में फलश्रुति की गाथाओं को भी मंत्र स्वरूप मानकर उसके कल्प और फलादेश बताए हैं ।

प्रश्न 17. नमस्कार में से 'असिआउसा' विद्या का उद्धार हुआ है । यह इसके पाँच पदों को पुष्टि देता है । यदि यह पूरा मंत्र होता तो ए,स,मं,प (चूलिका के आद्य अक्षर) भी इसमें सम्मिलित किये हुए होते, ऐसा नहीं लगता ?

उत्तर – असिआउसा को स्वतंत्र मंत्र माना गया है । इसी प्रकार चूलिका के आदि अक्षरों को स्वतंत्र मंत्र नहीं माना गया है । परंतु चूलिका के 33 अक्षरों को **'कर्णिका'** सहित बत्तीस पंखुड़ियों का कमल बनाकर ध्यान करने का विधान श्री **'नमस्कार पंजिका'** आदि ग्रंथों में मिलता है अर्थात् चूलिका के 33 अक्षरों को मंत्र स्वरूप माना गया है, यह सिद्ध होता है ।

10. मंत्र जप

शब्द–शक्ति के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग से मनुष्य जगत् चिरकाल से परिचित है । आदिवासियों ने भी अपने गूढ़ क्रियाकाण्डों में तथा प्रतीकों में इस शक्ति का उपयोग किया था । राजकीय प्रचार तथा व्यापारिक विज्ञापनों के इस युग में इस शक्ति का दुरुपयोग किया गया है ।

'शब्द' और **'ध्यान'** एक–दूसरे से मिले हुए हैं । ईश्वर के **'नाम '** के साथ भी वैसे ही ईश्वर का **'भाव'** जुड़ा हुआ है । अतः हमें यह समझना चाहिए कि शब्द–शक्ति का आध्यात्मिक जीवन में क्या महत्त्व है । यह महत्त्व स्वानुभव से ही जाना जा सकता है ।

जिसे तप का अनुभव नहीं, उसे यह क्रिया निरर्थक एवं यांत्रिक लगती है एवं वह उसको तुच्छ गिनता है । वे बहुधा यह कहते हुए पाए जाते है कि निश्चित शब्दों को बार–बार गिनने से क्या लाभ ? सत्य तो यह है कि हमने अपने आपका परीक्षण ही नहीं किया है, एवं हमारा समय तर्क–वितर्क में ही जा रहा है ।

हमारी जागृति का अधिकांश समय निरर्थक विचारों में, इन्द्रियानुभव में, स्मृति के बिखरे अंशों में,समाचार–पत्रों की खबरों में, भय, अरुचि अथवा उत्तेजना में बीत जाता है । यदि परीक्षण किया जाए, तो यह ज्ञात होगा कि 80 प्रतिशत लोग विचारों में सुसंयोजित नहीं हैं, केवल 20 प्रतिशत लोगों का मन व्यवस्थित रूप से काम करता है । बाह्य संयोगों से हमारी विचारधारा बँधी हुई है । आबहवा की अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियाँ एवं मक्खी–मच्छरों का गुंजन हमें व्यग्र कर देता है । तो ऐसी है हमारी मनःस्थिति तब कैसे तो हम जप–साधना करें, एवं कैसे ईश्वर के नाम में रमें ?

हम जैसे शब्दों का उच्चारण करते हैं, वैसे ही वातावरण को हम उत्तेजित करते हैं । यदि युद्ध, कैन्सर अथवा धन जैसे शब्दों का हम दस हजार बार उच्चारण करें, तो हमारे मन में तदनुसार भाव उत्पन्न हो जायेंगे । वैसे ही हम ईश्वर का नाम स्मरण करें, तो वैसे ही शांत–दान्त

भाव हमारे मन में उत्पन्न होंगे । यह कथन कोरी कल्पना नहीं, परंतु हमारे आध्यात्मिक जीवन का एक सत्य है । ईश्वर का नाम–स्मरण हमें चिंता के समय व्यग्रता से उबार लेता है । जब हमें भगवान के नाम की शक्ति का अनुभव होता है तो सद्भावों में हमारी वृत्ति लगती है । भगवान के नाम–जाप के साथ उनके गुणों का चिंतन भी महत्त्व रखता है, नाम–जाप से हमारा मन स्थिर होता है, एवं गुण–संकीर्तन द्वारा आगे बढ़ने की भूमिका बनती है ।

हम बार–बार जिस बात का स्मरण करते हैं, वैसे ही भाव हमारे में स्फुरित होते हैं । मंत्र की शुद्धता, प्रभावशाली प्रयोजकता एवं अनुभवसिद्धता के परीक्षण के लिए उसे गुरु से ही ग्रहण करना चाहिए । गुरु से प्राप्त उस मंत्र को गुप्त रखना चाहिए । मंत्रजाप की संख्या एवं निश्चितता के लिए प्रारंभ में माला आवश्यक है, बाद में इस माध्यम को हटाया भी जा सकता है ।

ईश्वर के नाम को वाणी द्वारा निरंतर जपना, हृदय से स्मरण करना, आत्मा से तन्मयता प्राप्त करना, मानस–चक्षुओं से सतत सान्निध्य अनुभव करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए । साधक जब इन भावनाओं से रंग जाता है, तब वह गहरे आत्म–संतोष का अनुभव करता है, एवं प्रार्थना उसके जीवन का अंग बन जाती है ।

यह न भूलना चाहिए कि मात्र मौखिक प्रार्थना भी कभी–न–कभी हृदय की सच्ची भावना बन जाती है । अतः इन्हें अर्थहीन क्रिया नहीं समझना चाहिए । यह अर्थहीन दिखती क्रिया सार्थक बन कर एक दिन आत्मा को नया आलोक, नया पोषण एवं चिदानन्द प्राप्त कराने में सहायक बनती है ।

अतः भले ही आप धंधे में लगे हुए हैं,अथवा प्रवास में हैं, हिसाब मिला रहे हैं, अथवा बैठे हैं । सभी समय, सभी स्थान पर, सभी संयोगों में प्रार्थना करना न भूलें । भले ही यह प्रार्थना क्षणिक ही हो, पर कण–कण से जैसे घड़ा भरता है, वैसे ही क्षणस्थायी यह प्रार्थना, भावना की उच्चता से चिरस्थायी बन जाएगी, एवं एक दिन आप स्वयं अपने शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो जाओगे ।

11. साधक को मार्गदर्शन

जाप करने वाले साधक को परमेष्ठी भगवान का स्वरूप गुरुओं के पास जाकर समझ लेना चाहिए और उसका बार–बार चिंतन–मनन कर अपने नाम की तरह अथवा व्याकरण के सूत्र की तरह आत्मसात् कर लेना चाहिए । अपना नाम लेते ही जिस प्रकार अपना समग्र स्वरूप ध्यान में आ जाता है वैसे ही जाप करते समय मंत्र के अक्षरों के अर्थ अपने मन के समक्ष आकर खड़े रहना चाहिए ।

परमेष्ठी–भगवंतों का हम पर परम उपकार है । उनके प्रति अपना ऋण कितना बड़ा है । इस बात का ध्यान जपकर्ता को सतत रखना चाहिए ।

'परमेष्ठी–भगवंतों का आलंबन नहीं मिलने के कारण भूतकाल में अनन्त भवभ्रमण करने पड़े हैं, उसका अन्त इनके आलंबन से आ रहा है ।' इस बात का हर्ष अनुभव करना चाहिए ।

1. जाप का समय, स्थान, वस्त्र और दूसरे उपकरण वे ही रखने चाहिए । बार–बार उनमें परिवर्तन नहीं करना चाहिए एवं उनका दूसरे कामों में प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

2. नियमित रूप से पवित्र और एकान्त स्थल में पूर्व अथवा उत्तराभिमुख होकर जप करना चाहिए । जप मकान की सबसे नीचे की भूमि अथवा तहखाने में करना चाहिए ।

3. जप करते समय काया और वस्त्रों की शुद्धि के साथ मन और वाणी का पूरा मौन रखने का प्रयास करना चाहिए ।

4. जाप शुरू करने से पहले 'वज्रपंजर स्तोत्र' द्वारा आत्मरक्षा करनी चाहिए ।

5. जाप करने से पूर्व सभी जीवों के साथ मैत्री, प्रमोद,

कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का चिंतन करना चाहिए । जाप पूर्ण होने के बाद भी इन चार भावनाओं का चिंतन करना चाहिए ।

6. जप का उद्देश्य पूर्व ही स्पष्ट और निश्चित कर लेना चाहिए । **'सर्व जीवराशि का हित हो', 'सर्व जीवों को परमात्मशासन का रसिक बनाऊँ ।' यह उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ है । 'भव्य आत्माएँ मुक्ति को प्राप्त करें', 'संघ का कल्याण हो', 'मेरी आत्मा कर्ममुक्त हो', 'विषय और कषाय की परवशता से मैं शीघ्र मुक्त होऊँ'** आदि उद्देश्यों में से कोई भी प्रशस्त उद्देश्य निश्चित कर लेना चाहिए ।

7. साधक को यह भी तय कर लेना चाहिए कि मेरे उद्देश्य की सफलता यदि होगी, तो इस जप के प्रभाव से ही होगी, अन्य किसी साधन से नहीं । ज्यों–ज्यों सफलता मिलती जाए, त्यों–त्यों समर्पण भाव का अधिक समायोजन करना चाहिए ।

8. जाप का प्रमाण इतना निश्चित कर लेना चाहिए कि जीवन के अंत समय तक उससे कम संख्या का जाप कभी न हो । उससे अधिक जाप हो सकता है, पर कम तो नहीं ।

9. जाप की संख्या कितनी हुई ? उसका ध्यान रखने के साथ–साथ जाप में चित्त की एकाग्रता कितनी हुई ? इसका भी ध्यान रखना चाहिए ।

10. हृदय रूपी पुस्तक के कोरे कागज पर ध्यान रूपी कलम द्वारा अपने नाम की तरह पंच परमेष्ठी–भगवन्त के नाम को एकाग्रतापूर्वक लिखना चाहिए । यदि प्रारंभ में ऐसी एकाग्रता नहीं आ सके, तो ध्येय तो वही रखना चाहिए, जिससे प्रतिदिन स्थिरता बढ़ती जाए ।

11. जाप से अन्य कार्य हो या न हो, पर हृदय–शुद्धि हो ही रही है–और हृदय में शुद्धि के परिणामस्वरूप बुद्धि निर्मल हो रही

है–ऐसा सतत विचार करना चाहिए । बुद्धि निर्मल होने से सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है–ऐसा शास्त्र वाक्य सदा स्मरणपथ में रखना चाहिए । बुद्धि को निर्मल करने का ध्येय जाप द्वारा अवश्य पूरा होता है–ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए ।

12. जाप करने वाले साधक विषयों को विषवृक्ष समान मानें । संसार के समागमों को स्वप्नवत् देखें एवं अपनी वर्तमान अवस्था को संसार–नाटक का एक अभिनय मानें । शरीर को कारावास, घर को धर्मशाला और संपूर्ण संसार को अपवित्रता का स्थान मानकर अनित्यादि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए ।

श्री नवकार मंत्र का जाप करने से आत्मा में शुभ कर्म का आस्रव होता है, अशुभ कर्म का संवर होता है, पूर्व कर्म की निर्जरा होती है, लोकस्वरूप का ज्ञान होता है, आत्मा सुलभबोधि बनती है और सर्वज्ञकथित धर्म की भवोभव-प्राप्ति करानेवाले पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म उपार्जित होते हैं–इत्यादि शुभ भावनाएँ चित्त में निरंतर बनी रहें, वैसा प्रयत्न होना चाहिए ।

जीवन में नमस्कार भाव नहीं आया तो यह जीवन, यह यौवन निरर्थक ही है और नमस्कार में मन लग गया तो यह जीवन और यौवन भी सार्थक बन जाएगा । मानव देह अशुचि का भंडार है, उस देह पर मोह रखेंगे तो अगले जन्म में विष्ठा का कीड़ा ही बनना पड़ेगा । नरक का कारण तन और धन नहीं, किंतु मन ही है । मन यदि निर्मल होगा तो तन और धन का सही सदुपयोग होगा । अशुद्ध ऐसे मन को सुधारने के लिए ही यह शाश्वत नवकार मंत्र है, यह नवकार अपने पापमल को हरनेवाला है ।

12. महामंत्र की लोकोत्तरता

जिसके पाठ मात्र से कार्य की सिद्धि हो, उसे मंत्र कहते हैं एवं जिसको सिद्ध करने के लिए जप, होम, हवन आदि क्रियाएँ करनी पड़ें, उसे विद्या कहते हैं ।

शास्त्रों में दूसरे प्रकार से भी विद्या एवं मंत्र का भेद बताया है । कहा है कि जिसकी अधिष्ठाता देवी स्त्री हो वह विद्या एवं जिसके अधिष्ठाता देव हो, वह मंत्र है ।

मंत्र क्या वस्तु है ? –उसे विशेष रूप से समझाने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने कहा है कि मंत्र अक्षर या अक्षरों का समूह है । अक्षर अथवा अक्षरों के समूह को छोड़कर मंत्र दूसरी कोई वस्तु नहीं । पुनः **'निर्बीजमक्षरं नास्ति'** अथवा **'नास्त्यनक्षरं मंत्रम्'** अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं कि जिसमें मंत्रशक्ति नहीं हो अथवा अक्षर को छोड़कर मंत्र दूसरी कोई वस्तु नहीं ।

अक्षर अथवा अक्षर के समूहात्मक शब्द में अपरिमित शक्ति रही है–यह आज के समस्त बुद्धिशाली वर्ग को मानना पड़ता है । गाने–बजाने, हँसने–रोने का भी वातावरण पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक शब्द–शक्ति का ही एक परिचय है । रणसंग्राम में सुरीले वाद्य जो प्रभाव उत्पन्न करते हैं, वह प्रभाव अन्य प्रसंगों पर बजने वाले वाद्य पैदा नहीं कर सकते । आकाश में मेघगर्जना जो भाव पैदा करती है, वह भिन्न होता है एवं रणसंग्राम में तोपों की गर्जना जो भाव उत्पन्न करती है, वह भिन्न होता है ।

जिस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्दों का भिन्न–भिन्न प्रभाव है, वैसे ही वर्णात्मक शब्दों के उससे भी महान् भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रभाव माने गये हैं । ये प्रभाव अनुभव क्षेत्र में प्रत्यक्ष होते हैं । एक व्याख्याता के मुख से निकले हुए उत्साहप्रेरक शब्द वातावरण को उमंगपूर्ण

बनाते हैं, उसी व्याख्याता के मुख से निकले निराशाजनक शब्द वातावरण को गमगीन बना देते हैं । विविध प्रकार के रसों का पोषण होने से वक्ता अथवा लेखक की शब्दशक्ति के अतिरिक्त दूसरा किसका प्रभाव है ?

शब्दशक्ति अचिन्त्य है, बस, केवल उसके प्रयोगकर्ता योग्य पुरुष की आवश्यकता रहती है । किस प्रकार के शब्दों के मिलने से किस प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, उसके जानकार इस संसार में दुर्लभ हैं परंतु जब जानकार के हाथ में अक्षर अथवा शब्द आते हैं तब वह विविध प्रकार की शब्द–रचना द्वारा श्रोताओं के चित्त के संताप एवं दिल के दु:खों को क्षणमात्र में शांत कर देता है । इसे इस दृष्टि से समझना चाहिए कि पूर्वधरों की देशनाशक्ति केवलज्ञानी के समकक्ष दिखाई देती है ।

'श्रुतकेवली' शब्द की एक व्याख्या ऐसी भी की गई है कि वे सर्वाक्षर सन्निपाती होते हैं, सभी अक्षरों एवं उनके परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होने वाले सभी अर्थों को वे जानते हैं एवं उनसे उनकी उपदेशक शक्ति अमोघ बनती है ।

मंत्रों में केवल अक्षरों की कार्यसाधक शक्ति होती है, इतना ही नहीं, उनमें दूसरी शक्तियाँ भी कार्य करती हैं, और वह है मंत्र के योजक की शक्ति, मंत्र के वाच्य पदार्थों की शक्ति, मंत्रयोजक के हृदय की भावना तथा मंत्रसाधक की आत्मा में स्थित मंत्रशक्ति पर का सद्भाव, अखंड विश्वास, निश्चल श्रद्धा आदि ।

तात्पर्य यह है कि मंत्र केवल अक्षर अथवा परस्वरूप ही नहीं पर पद, पदार्थ, पद के योजक तथा पदप्रयोजक की भावनाओं एवं शक्तियों के योग रूप है । मंत्र की शक्ति इन चारों के अनुरूप होती है । मंत्र का योजक क्लिष्ट परिणामी हो तो मंत्र मारक बनता है एवं असंक्लिष्ट परिणामी, निर्मल बुद्धियुक्त हो, तो उसके द्वारा योजित मंत्र, तारक बनता है ।

लौकिक मंत्र शक्ति का प्रयोग मुख्य रूप से आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तम्भन, सम्मोहन आदि लौकिक कार्यों के लिए होता है । लौकिक मंत्र शक्ति का उपयोग किसी व्यक्ति को अपनी तरफ खींचने, किसी को वश करने, किसी प्रतिपक्षी को उड़ाने, किसी शत्रु का नाश करने, किसी को स्तम्भित करने अथवा किसी को मोहित करने के लिए होता है । उस मंत्र की सफलता का आधार मंत्र का प्रयोग करने वाले साधक की शक्ति आदि पर निर्भर है ।

यदि मंत्र- प्रयोजक सच्चा न हो परंतु धूर्त हो, तो मंत्र निष्फल जाता है । साधक सत्य हो किन्तु मंत्र अशुद्ध हो, मंत्र शुद्ध हो किन्तु उच्चारण अशुद्ध हो अथवा उच्चारण शुद्ध हो पर प्रयोजक का चित्त एकाग्र न हो अथवा श्रद्धा रहित हो, तो भी मंत्रशक्ति सफल नहीं हो सकती है । जहाँ ये सारी वस्तुएँ शुद्ध एवं पूर्ण हों, वही मंत्र–शक्ति अपना कार्य पूरा कर सकती है ।

इस दृष्टि से श्री नमस्कार महामंत्र विश्व के समस्त मंत्रों में अग्रस्थान प्राप्त करता है । उसकी शक्ति अतुल है, क्योंकि लोकोत्तर महापुरुष ही उसके योजक हैं । अर्थ से तीर्थंकर एवं सूत्र से गणधर उसके योजक हैं । उसका वाच्यार्थ लोकोत्तर महर्षियों को प्रणाम रूप है । उसके अक्षरों का संयोग एवं पदों की रचना सरल एवं स्पष्ट है । सभी लोग उसका पाठ अथवा उच्चारण आसानी से कर सकते हैं एवं उसका अर्थ समझ सकते हैं । उसका स्मरण तथा जाप मुख्यतया सम्यग्दृष्टि, संसार से निःस्पृह एवं एकमात्र मुक्ति-सुख के अर्थी उत्तम पुरुष ही करते हैं ।

विश्व के अन्य मंत्र जहाँ कामना करने से उसकी पूर्ति करते हैं, वहाँ श्री नमस्कार महामंत्र निष्काम भाव से जपने से समस्त कामना पूर्ण करता है । यह उसकी आश्चर्यकारकता है एवं उसके प्रणेताओं की अपूर्व निष्काम भावना का परम प्रतीक है ।

श्री नमस्कार मंत्र की दूसरी विशेषता यह है कि उसके द्वारा

जिन पुरुषों की आराधना की जाती है, वे सब वीतराग एवं निःस्पृह महात्मा हैं । विश्व के अन्य मंत्रों के आराध्य देव संसारी, स्पृहावाले एवं सरागी आत्मा हैं । श्री नमस्कार महामंत्र सर्वाधिक शक्तिशाली होने का कारण इस मंत्र के अधिनायकों की परम विशुद्धि भी है, क्योंकि सरागी की शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, तो भी वीतराग की अचिन्त्य शक्तिमत्ता एवं प्रभाव रूप सागर के सम्मुख वह एक बिन्दु जितनी भी नहीं होती ।

श्री नमस्कार महामंत्र की तीसरी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य मंत्रों में देवता अधिष्ठाता रूप में हैं, वहाँ इस मंत्र में देवता सेवक रूप में रहते हैं । अर्थात् एक स्थान पर देवों का सेव्य रूप है एवं दूसरे स्थान पर देवों का सेवक रूप है । लौकिक–मंत्र, मात्र देवाधिष्ठित होता है । उसका जाप करने से मंत्र का स्वामी देव जब वशीभूत होता है, तभी वह मंत्र सिद्ध हुआ गिना जाता है ।

परमेष्ठी–नमस्कार महामंत्र इससे भिन्न है, उसका स्वामी होने की शक्ति किसी भी देवता में नहीं है, देवता भी उसके सेवक बन कर रहते हैं । जो इस महामंत्र की आराधना करते हैं, उनकी मंत्र के प्रति भक्ति के वशवर्ती होकर देवता उन आराधकों के भी सेवक बनकर रहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि नमस्कार महामंत्र किसी देवता की शक्ति के कारण शक्तिशाली या प्रभावसम्पन्न नहीं, पर श्री नमस्कार महामंत्र की तो स्वयं की शक्ति एवं स्वयं का प्रभाव ही ऐसा अचिंत्य है कि देवों को भी उसके वश में रहना पड़ता है ।

श्री नमस्कार महामंत्र की चौथी विशेषता यह है कि अन्य मंत्र जहाँ अत्यंत गूढ़ार्थक तथा उच्चारण में क्लिष्टतर होते हैं, वहाँ श्री नमस्कार महामंत्र शब्दों से अति स्पष्ट एवं अर्थ से अत्यंत सरल है । बुद्धिमान से लगाकर बालक पर्यन्त सभी कोई उसका पाठ सरलता से एवं उसका उच्चारण शुद्ध रीति से कर सकते हैं तथा उसके अर्थ का ज्ञान भी आसानी से प्राप्त किया जा सकता है ।

श्री नमस्कार महामंत्र की इस सरलता एवं स्पष्टता को देखकर बहुतों को उस पर अश्रद्धा एवं अविश्वास होता देखा गया है । उनकी यह मान्यता है कि मंत्र तो गूढ़ार्थक होना चाहिए एवं उच्चारण में भी क्लिष्ट होना चाहिए । परंतु उनकी यह मान्यता उचित नहीं, जिस मंत्र का जैसा कार्य हो, उसकी शब्द–रचना उसके अनुरूप होनी चाहिए । श्री नमस्कार महामंत्र मुक्तिदाता है, परम पद को प्रदान करने वाला है । अतः उसकी रचना उसके अनुरूप होनी चाहिए ।

मोक्षाभिलाषी प्रत्येक जीव, फिर भले ही वह बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री हो, पुरुष हो, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित हो, सभी के लिए एक समान उपयोगी रचना होनी चाहिए । श्री नमस्कार महामंत्र की सरलता एवं स्पष्टता के पीछे उसके प्रणेताओं का यह गंभीर एवं उदात्त आशय है । उसके प्रकाशक अनन्त ज्ञान के भण्डार एवं अनन्त करुणा के निधान हैं । अतः यह स्वाभाविक है कि उसकी रचना ऐसी है कि सभी हितार्थी जीवों का एक–समान हित हो सके । जिसका विषय समग्र विश्व के लिए एक समान उपयोगी हो, सभी का एकान्त हित करनेवाला हो, उसकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिसका उच्चारण सुखपूर्वक हो सके एवं जिसका अर्थ–बोध भी आबाल–गोपाल सभी के लिए विभ्रम रहित हो सके ।

कई मंत्रों की शब्द–रचना इतनी क्लिष्ट होती है कि उनका उच्चारण करना भी कठिन हो जाता है, किसी के बदले कुछ अन्य उच्चारण हो जाता है एवं उस अशुद्ध उच्चारण के कारण अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है, वहाँ नमस्कार महामंत्र में यह कठिनाई नहीं है । उसका उच्चारण ऐसे स्पन्दन उत्पन्न करता है कि उसका साधक किसी भी प्रकार की सिद्धि के लिए योग्य सिद्ध होता है ।

श्री नमस्कार महामंत्र की यह विशेषता अन्य मंत्रों में अवतरित नहीं हो सकती, अवतरण की भूमिका भी नहीं, अतः उसकी सर्वमंत्रों का शिरोमणि अथवा मंत्राधिराज की उपमा सार्थक एवं सुघटित है ।

श्री नमस्कार महामंत्र की पाँचवी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य मंत्र, अनुग्रह–निग्रह, लाभ–हानि दोनों के लिए उपयोगी हैं, वहाँ नमस्कार मंत्र से किसी की हानि नहीं हो सकती, यह सिर्फ लाभ में ही हेतु बनता है ।

इस मंत्र की छठी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य मंत्र लौकिक पुरुषों पर आकर्षण, वशीकरण आदि करते हैं, वहाँ नमस्कार लोकोत्तर पदार्थ का आकर्षण, वशीकरण आदि करता है । कहा है कि–

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधती, मुक्तिश्रियो वश्यता–
मुच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां, विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रपततां, मोहस्य संमोहनं,
पायात् पञ्चनमस्क्रियाऽक्षरमयी, साऽऽराधना देवता ।।

अर्थ :– यह पंच परमेष्ठि–नमस्कार रूप अक्षरमयी आराधना रूप देवता तुम्हारा रक्षण करे कि जो सुरसम्पदाओं का आकर्षण है, मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश करती है, चारों गतियों में होने वाली विपदाओं का उच्चाटन करती है, आत्मा के पापों के प्रति द्वेष करती है, दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को रोकती है एवं मोह का भी सम्मोहन करती है, शांत करती है ।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण श्री नमस्कार महामंत्र सभी मंत्रों में शिरोमणिभूत मंत्र है एवं उसकी साधना दूसरे सभी मंत्रों की अपेक्षा सरल होने से सभी को एकसमान सुलभ है । अधमाधम जीव भी इस महामंत्र के पवित्र अक्षर कान में पड़ने मात्र से दुर्गम दुर्गतिरूपी गहन गर्त में पड़ते उबर गए हैं । क्रूरातिक्रूर तिर्यंच भी इसके श्रवण मात्र से लघुकर्मी बनकर भवसमूद्र को तर जाते हैं । इस प्रकार की अद्‌भुत शक्ति होते हुए भी इतनी अद्‌भुत सरलता दूसरे किसी भी मंत्र में संभव नहीं, अतः ज्ञानियों ने अपने मुख से इस मंत्रराज की महिमा गाई है । इस महिमा के मर्म को सभी लोग स्पष्ट रूप से समझ कर उसके आराधक बनें, यही एकमात्र इच्छा है ।

13. महामंत्र की सर्वदर्शिता

1.मंत्र शास्त्र की दृष्टि से नमस्कार महामंत्र सर्व पाप रूपी विष का नाश करने वाला है ।

2.योग शास्त्र की दृष्टि से नमस्कार महामंत्र में पदस्थ–ध्यान के लिए परम पवित्र पदों का आलंबन है ।

3.आगम साहित्य की दृष्टि से यह महामंत्र सर्व श्रुत में स्थित है तथा चूलिका सहित महाश्रुत स्कन्ध की उपमा से अलंकृत है ।

4.कर्म–साहित्य की दृष्टि से नमस्कार मंत्र के एक–एक अक्षर की प्राप्ति के लिए अनन्तानन्त कर्मस्पर्धकों का नाश जरूरी है तथा उसके एक–एक अक्षर के उच्चारण से कर्म–रसाणुओं का नाश होता है ।

5.ऐहिक दृष्टि से नमस्कार महामंत्र से इस जन्म में प्रशस्त अर्थ, काम एवं आरोग्य की प्राप्ति तथा उसके योग से चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

6.नमस्कार महामंत्र परलोक की दृष्टि से मुक्ति तथा मुक्ति न मिले तब तक उत्तम देवलोक एवं उत्तम मनुष्यकुल की प्राप्ति करवाता है । उसके परिणामस्वरूप जीव को थोड़े काल में बोधि, समाधि एवं सिद्धि प्राप्त होती है ।

7.द्रव्यानुयोग की दृष्टि से प्रथम दो पद स्वयं की आत्मा के ही शुद्ध स्वरूप हैं एवं उसके बाद के तीनों पद शुद्ध स्वरूप की साधक अवस्था के शुद्ध–प्रतीक रूप हैं ।

8.चरण–करणानुयोग की दृष्टि से साधु एवं श्रावक की सामाचारी के पालन में कल्याण हेतु एवं विघ्न निवारण हेतु नमस्कार महामंत्र का बारबार उच्चारण आवश्यक है ।

9.गणितानुयोग की दृष्टि से नवकार के पदों की नौ संख्या

गणित–शास्त्र की दृष्टि से अन्य संख्याओं की अपेक्षा अखण्डता एवं अभंगता का विशिष्ट स्थान रखती है । नौ की संख्या नित्य अभिनव भावों को उत्पन्न करती है ।

नवकार की अष्ट सम्पदाएँ अनन्त सम्पदाओं को प्रदान करवाने वाली हैं तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियों को सिद्ध करवाती हैं । नवकार मंत्र के 68 अक्षर अड़सठ तीर्थ स्वरूप बनकर उनके ध्याता के तारक बनते हैं । अनानुपूर्वी से सम्भूत श्री नमस्कार महामंत्र के पदों का परावर्तन चित्त–स्थिरता का अमोघ कारण है ।

10.धर्मकथानुयोग की दृष्टि से अरिहंतादि पाँच परमेष्ठियों के जीवन–चरित्र, अद्‌भुत कथास्वरूप हैं । नमस्कार का आराधन करनेवाले जीवों की कथाएँ भी आश्चर्यकारक उन्नति को दिखानेवाली हैं । ये सभी कथाएँ सात्त्विकादि गुणों का पोषण करने वाली हैं ।

11.चतुर्विध संघ की दृष्टि से नवकार मंत्र सभी को एक श्रृंखला में जोड़ने वाला तथा सभी को एक ही स्तर तक पहुँचानेवाला है ।

12.चराचर विश्व की दृष्टि से नमस्कार के आराधक सभी जीवों को अभय प्रदान करनेवाले हैं । वे सदैव सकल विश्व की सुख–शांति चाहते हैं एवं उस हेतु किसी प्रत्युपकार की आशा अथवा इच्छा के बिना हर समय सभी प्रयत्न किया करते हैं ।

13.व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से किसी भी प्रकार की बाह्य साधन–सामग्री के अभाव में भी साधक केवल मानसिक बल से परमोन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है ।

14.समष्टिगत उन्नति की दृष्टि से यह महामंत्र एक–दूसरे को समान आदर्श के पूजक बनाकर सत्‌श्रद्धा, सद्‌ज्ञान तथा सच्चारित्र के सत्पथ पर अविचल रहने का उत्तम बल समर्पित करता है ।

15.अनिष्ट निवारण की दृष्टि से नमस्कार महामंत्र का स्मरण

अशुभ कर्म के विपाकोदय को रोक देता है एवं शुभ कर्म के विपाकोदय को अनुकूल बनाता है । इस नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से समस्त अनिष्ट, इष्ट रूप में बदल जाते हैं, जैसे कि जंगल मंगलमय तथा सर्प फूल की माला बन जाते हैं ।

16.इष्टसिद्धि की दृष्टि से नमस्कार महामंत्र शारीरिक बल, मानसिक बुद्धि, आर्थिक वैभव, राजकीय सत्ता, ऐहिक सम्पत्ति तथा दूसरे भी अनेक प्रकार के ऐश्वर्य, प्रभाव एवं उन्नति को प्रदान करता है, क्योंकि वह चित्त की मलिनता एवं दोषों को दूर कर निर्मलता एवं उज्ज्वलता को प्रकट करता है । चित्त की निर्मलता नमस्कार महामंत्र से सहज सिद्ध होती है ।

14. नमस्कार का प्रभाव

श्री नमस्कार सूत्र में कहा गया है कि पंच परमेष्ठी–नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाला तथा सभी मंगलों का मूल है । उसकी महिमा विस्तार से बताने हेतु शास्त्रों से उद्धृत नाना प्रकरण रूप में रचे हुए कितने ही प्रकरण आज भी मिलते हैं । उसमें से दो प्रकरण–एक संक्षेप में फल बताने वाला तथा दूसरा विस्तार से फल बताने वाला है एवं वह मूल प्राकृत से सरल भाषा में अनुवाद रूप में प्रकाशित भी हुआ है ।

शास्त्रकारों ने आदेश दिया है कि संक्लेश, कष्ट तथा चित्त की अरति एवं असमाधि के समय बारम्बार नमस्कार महामंत्र को याद करना चाहिए । ज्ञानियों ने असमाधि एवं अशांति को अदृश्य करने का सिद्ध, शीघ्रगामी एवं अमोघ उपाय भी नमस्कार मंत्र, उसके पदों एवं उसके प्रत्येक अक्षर का आलंबन बताया है । श्री नमस्कार मंत्र

विधिपूर्वक आश्रय लेनेवाले को अपूर्व शांति प्रदान करता है, अनन्त कर्मों का नाश करता है, साथ ही सद्धर्म एवं उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले अंनत सुखों का भागी बनाता है । जिस प्रकार बीज में से अंकुर, अंकुर में से वृक्ष एवं वृक्ष में से पत्र, पुष्प एवं फल स्वाभाविक रीति से ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार रूपी भाव–बीज में से कालक्रम से सद्धर्म के चिंतारूप अंकुरों की, सद्धर्म–श्रवण एवं अनुष्ठानादिरूप वृक्ष की एवं उसकी शाखा–प्रशाखाओं की, सुदेव–मनुष्यों के सुखरूपी पत्र-फूलों की, सिद्ध–गति के अक्षय सुख रूप, सदा अम्लान एवं परिपक्व मोक्षफल की प्राप्ति स्वयमेव होती है ।

श्री पंचपरमेष्ठि–नमस्कार, भाव–धर्म का बीज है एवं भावधर्म की सिद्धि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग एवं अपवर्ग के सुखों का भी बीज है । जिससे स्वर्ग एवं अपवर्ग के दुर्लभ सुख भी सुलभ एवं सहज बनते हैं । उस नमस्कार महामंत्र से अन्य सुखों की प्राप्ति अथवा साधारण की निवृत्ति शक्य न हो, यह कल्पना ही अयोग्य है । सुख चाहनेवाले या दुःख दूर करने के इच्छुक आत्माओं को नमस्कार मंत्र जैसी बिना मूल्य के प्राप्त हुई या होनेवाली असाधारण वस्तु से दूर नहीं रहना चाहिए ।

परमेष्ठि–नमस्कार परममंत्र है । इतना ही नहीं परमशास्त्र है । परमशास्त्र ही नहीं, सर्वशास्त्रों में शिरोमणिभूत महाशास्त्र है । शास्त्रों में इसे महाश्रुतस्कंध नाम से संबोधित किया है । लोक में स्थित पंचास्तिकाय की तरह नमस्कार मंत्र को शाश्वत एवं सहज–सिद्ध रूप माना गया है । इसकी महिमा अभूतपूर्व है । यह अति आवश्यक है कि प्रत्येक पुण्यवान आत्मा उस महिमावान वस्तु की आराधना में रस ले एवं प्रत्येक दुःख के प्रतिकार हेतु शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जीवन में उसे स्थान दे ।

15. महामंत्र की अचिन्त्य कार्यशक्ति

मानव–जीवन में नमस्कार का बहुत ऊँचा स्थान है । मनुष्य के हृदय की कोमलता, गुणग्राहकता एवं भावुकता का वह परिचायक है । अपने से श्रेष्ठ एवं पवित्र महान् आत्माओं को भक्तिभाव से गद्‌गद होकर नमस्कार करना मानव–मात्र का सहज धर्म है । इससे अहंकार का नाश होता है एवं योग्य के चरणों में स्वयं के समर्पण द्वारा आत्म–संतोष का अनुभव होता है ।

नमस्कार, नम्रता एवं गुणग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है । नमस्कार से उत्तम आत्माओं से अपनी हीनता एवं उनकी उच्चता का स्वीकार होता है । इतना ही नहीं, पर यह स्वीकार अपने में उत्तम गुणों की प्राप्ति में कारणभूत होने से मानवमात्र का परम धर्म बन जाता है ।

विशुद्ध नमस्कार से उपासक की आत्मा में उपास्य के प्रति भक्ति का साम्राज्य स्थापित होता है । वह भक्तिभाव सत्संस्कार को ग्रहण करने के लिए एक सरल एवं सरस साधन बन जाता है ।

अपने से अधिक विकसित आत्माओं को देखकर, सुनकर भक्तिभाव से द्रवित होना एवं उनके प्रति भक्तिभाव सहित बहुमान एवं सम्मान प्रदर्शित करना, प्रमोदभाव का ही एक स्वरूप है ।

प्रमोद भावना से हृदय विशाल, उदार एवं उदात्त बनता है एवं इस भावना के अभ्यास से गुण–प्राप्ति सुलभ होती है । इतना ही नहीं, हृदय में रहे ईर्ष्या, असूया आदि दोष जल कर भस्मीभूत हो जाते हैं ।

महान् आत्माओं को नमस्कार करने से इतने बड़े फल की प्राप्ति होती है, यह बात आज के तर्कप्रधान युग में सुसंगत कैसे बिठाना ? इस प्रकार का प्रश्न उठना सहज है, वैसे ही उसका उत्तर भी उतना ही सरल है ।

स्थूल जगत् में हाथ–पाँव हिलाने आदि को ही क्रिया कहा जाता है, आंतर जगत् में ऐसा नहीं है । आंतर जगत् में क्रिया की रीति भिन्न प्रकार की है । सूर्य के उदय होते ही चोर पलायन कर जाते हैं । इस क्रिया में सूर्य को कुछ करना नहीं पड़ता है । सूर्य के निमित्त मात्र से वह क्रिया स्वतः हो जाती है । उसी प्रकार कमल स्वयमेव विकसित हो जाते हैं ।

परमेष्ठि नमस्कार में यही नियम लागू होता है । पापरूपी चोरों को भगाने के लिए एवं भव्यात्माओं के हृदय रूपी कमलों को विकसित करने के लिए परमेष्ठी भगवान मात्र आलंबन रूप–निमित्त हैं । उनके निमित्त मात्र से वह कार्य अपने आप हो जाता है । नमस्कार से साधक परमोच्च आलंबनों के साथ संपर्क करता है । वे आलंबन सूर्य की भाँति बनकर साधक की आत्मा की विशुद्धि करते है एवं अशुद्धि को दूर करते हैं।

जैन धर्म में श्री पंच परमेष्ठी–नमस्कार को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है । इसका कारण यह है कि समस्त धर्म–क्रियाओं में यह केन्द्र स्थान में है । उसे सर्वशास्त्रों का नवनीत माना है । उसे सभी धर्म–भावनाओं का मूल स्त्रोत कहा गया है । इसमें आलंबन रूप में सर्वदेश एवं सर्वकाल के श्रेष्ठ महापुरुषों का ग्रहण किया गया है । उन सबका परमोच्च आलंबन प्राप्त कर साधक की आत्मा पापवासना से मुक्त एवं धर्मवासना से युक्त बनती है । इसी कारण सर्वमंगलों में इसे प्रथम मंगल माना गया है । सभी मंगलों में इसे राजा का स्थान प्राप्त है एवं दूसरे सभी मंगल उसके सेवकों का काम करते हैं ।

जैन मत में बाह्यमंगल सर्वथा एवं सर्वदा मंगल नहीं माने जाते । दही मंगल है, पर ज्वरग्रस्त के लिए अमंगल है । अक्षत मंगल है, पर उड़कर आँख में गिर जाए, तो अमंगल बनता है । परमेष्ठि–नमस्कार महामंगल है, उसका संबन्ध आंतर–जगत् के

साथ है । यथायोग्य उपयोग करते हुए भी दूसरे मंगल विफल सिद्ध होते हैं परंतु इसमें ऐसा नहीं होता, अतः यह एकान्तिक मंगल है । इतर मंगलों के फल का नाश होता है, परंतु इसमें ऐसा नहीं होता, अतः यह आत्यन्तिक मंगल है । जब–जब इसका आश्रय लिया जाएगा, तब–तब यह अवश्य फलदायी बनेगा ।

यह शुभभाव रूप है अतः अशुभ भावों का नाश करता है एवं अधिकाधिक मांगलिक भावों को जगाता है । मानव की आत्मा भावमय है अतः परमेष्ठि–नमस्कार से वह शुभ मंगल भावमय बनता है । इसी से अशुभ एवं अमंगल भावों को जीता जाता है, परिणामस्वरूप साधक सदा के लिए सुख एवं सद्‌गति का भागी बनता है ।

पुण्य खराब नहीं है । पुण्य के फलस्वरूप सुख की इच्छा करना खराब है । मोक्ष मार्ग संबंधी सारी अनुकूल सामग्री पुण्य के उदय से ही प्राप्त होती है । पुण्य अग्नि है और पाप ईंधन है । पुण्य के फल की इच्छा से स्वार्थ की भावना पुष्ट होती हैं, जिससे पुनः पाप का ही बंध होता है । ऐसे पुण्य को पापानुबंधी पुण्य कहते हैं और वह आत्मा के लिए बंधन रूप है । फल की इच्छा न हो तो वह पुण्य हमें साधना मार्ग में सहायता ही करता है । प्रभु के पुण्य से ही हमें तीर्थ, संघ, जिनवाणी आदि का लाभ प्राप्त हुआ है ।

16. महामंत्र की व्यापकता

जगत् में मुख्य रूप से तीन प्रकार के मानव दिखाई देते हैं–शास्त्रानुसारी, तर्कानुसारी एवं भावनानुसारी । पहला वर्ग आज्ञा–प्रधान मनोवृत्तिवाला होता है । दूसरा वर्ग युक्ति–प्रधान मनोवृत्तिवाला एवं तृतीय वर्ग आज्ञा से एवं युक्ति निरपेक्ष केवल भाव एवं संवेदनशील मनोवृत्तिवाला होता है । इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को नमस्कार महामंत्र की व्यापकता एवं श्रेष्ठता बताने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने अथक प्रयत्न किया है ।

1. शास्त्रानुसारी वर्ग

शास्त्रानुसारी वर्ग आज्ञा प्रधान मनोवृत्तिवाला होता है । आज्ञा का अर्थ है–आप्त–वचन । जैन शासन में आप्त पुरुषों के रूप में रागादि दोषों से रहित वीतराग एवं सर्वज्ञ की गणना होती है । वे इसी कारण सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हुए हैं । उनका वचन ही आज्ञा है, जिसका अनुसरण करने की वृत्ति शिष्ट पुरुषों में स्वाभाविक रूप से होती है ।

शास्त्रानुसारी–आज्ञा प्रधान आत्माओं को श्री नमस्कार महामंत्र की सर्व शास्त्र व्यापकता एवं सर्वश्रुत–अभ्यंतरता समझने के लिए श्री तीर्थंकर देवों द्वारा प्रकाशित एवं श्री गणधर देवों द्वारा ग्रथित **श्री आवश्यक सूत्र** की सूरिपुरंदर श्री **हरिभद्रसूरि** विरचित टीका (पृ0 376) में कहा गया है कि–`**तत्र सूत्रं सूत्रानुगमे सत्युच्चारणीयं, तच्च पंचनमस्कारपूर्वकं, तस्याऽशेषश्रुतस्कन्धाऽन्तर्गतत्वात् ।'**

अर्थ :– यहाँ सूत्र का अर्थ सामायिक सूत्र है एवं उसके अनुगम का अर्थ है–व्याख्यान के समय पंच नमस्कार पूर्वक सूत्रोच्चारण करना चाहिए, क्योंकि पंच नमस्कार सर्वश्रुत स्कन्ध के अंतर्गत रहा हुआ है ।

आवश्यक निर्युक्ति

सामायिक–सूत्र का उच्चारण करने का विधान होने से श्री परमेष्ठि–नमस्कार मंत्र का उच्चारण करना चाहिए । इसलिए श्री सामायिक सूत्र का व्याख्यान करने से पूर्व पंच परमेष्ठि–नमस्कार का व्याख्यान करना चाहिए । इस बात को विशेष स्पष्ट करते हुए टीकाकार महर्षि कहते हैं कि– **'अतोऽसावेव सूत्रादौ व्याख्येयः सर्वसूत्रादित्वात् सर्वसम्मतसूत्रादिवत् सूत्रादित्वं चाऽस्य सूत्रादौ व्याख्यायमानत्वात् निर्युक्तिकृतोपन्यस्तत्वाच्च । '**

अर्थ :–इसलिए सूत्रारम्भ में श्री पंच नमस्कार की ही व्याख्या करनी चाहिए क्योंकि उसकी स्थिति सभी सूत्रों की आदि में है । जो सभी सूत्रों के आरंभ में हो, उसकी व्याख्या सबसे पहले करनी चाहिए, यह बात विद्वानों को सम्मत है । श्री पंच नमस्कार की आदिसूत्रता इस पर से सिद्ध होती है कि निर्युक्तिकार भगवान ने सर्वप्रथम उसका उपन्यास किया है एवं सर्वप्रथम उसकी व्याख्या की है ।

इस प्रकार निर्युक्तिकार श्रुतकेवली भगवन्त श्री **भद्रबाहुस्वामीजी** के प्रामाण्य से टीकाकर **श्रीहरिभद्रसूरिजी** भी श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार को सर्वश्रुत के अभ्यंतर अर्थात् सर्वशास्त्रव्यापी प्रतिपादित करते हैं एवं सर्वप्रथम उसकी ही व्याख्या का आदेश देकर श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार की सर्वश्रुत–श्रेष्ठता बतलाते हैं ।

आवश्यक सूत्र के कर्ता

अर्थ से श्री आवश्यक सूत्र के कर्त्ता श्री अरिहंत देव हैं, सूत्र से श्री गणधर भगवन्त हैं । श्री आवश्यक निर्युक्ति के कर्त्ता चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भगवान श्री **भद्रबाहुस्वामी** हैं तथा मूल सूत्र एवं उसकी

निर्युक्ति पर टीका के प्रणेता 1444 ग्रंथ के प्रणेता समर्थ शास्त्रकार श्री **हरिभद्रसूरिजी** हैं । वे कहते हैं कि सूत्र के व्याख्यान से पूर्व सूत्र का उच्चारण करना चाहिए एवं इस सूत्र का उच्चारण पंच नमस्कार पूर्वक करना चाहिए क्योंकि श्री पंच नमस्कार, सर्वश्रुत के अंदर स्थित है, सर्वश्रुत के अंदर अर्थात् सर्व सिद्धांतो में व्यापक है ।

श्री जिनागम का कोई भी सूत्र अथवा कोई भी शास्त्र श्री पंच नमस्कार रहित नहीं है । श्री पंच नमस्कार सर्वश्रुत एवं सर्वशास्त्रों के अभ्यंतर स्थिर है । यह स्पष्ट रूप से जानना चाहिए कि भले वह स्पष्ट रूप से उल्लेखित नहीं किया गया हो, तो भी उसमें स्थित है ही । क्योंकि पंच नमस्कार के उच्चारण बिना किसी भी शास्त्र का अध्ययन अथवा अध्यापन श्री शास्त्र में विहित नहीं है ।

आदिमंगलता–श्री पंच नमस्कार की सर्वश्रुत अभ्यन्तरता एवं आदिमंगलता को शास्त्रकारों के वचन से जानकर उसका आचरण श्री निर्युक्तिकार भगवान से लगाकर आज तक समस्त श्रुतधरों को मान्य है एवं आज भी सूत्र, व्याख्यान अथवा प्रवचन के प्रारंभ में सर्वप्रथम श्री पंच नमस्कार का स्मरण किया जाता है तथा सभी प्रकार की शुभ क्रियाओं के प्रारंभ में आदिमंगल रूप में उसी को स्मरण किया जाता है ।

2. तर्कानुसारी वर्ग

शास्त्रानुसारी वर्ग के पश्चात् दूसरा नंबर तर्कानुसारी वर्ग का आता है । शास्त्रानुसारी वर्ग आज्ञाप्रधान होता है, तो तर्कानुसारी वर्ग युक्ति–प्रधान होता है । प्रजा के लिए राजा के वचन की तरह लोकोत्तर पुरुषों में श्री तीर्थंकर–गणधरों का वचन अन्य किसी युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता है ।

राजा की आज्ञा ही वास्तविक आज्ञा है एवं उसके सामने बुद्धि अथवा युक्ति की बातें टिकती नहीं, वैसे ही श्री तीर्थंकर–गणधरों के

समक्ष भी युक्ति अकिंचित्कर एवं बुद्धि निर्बल है । अतीन्द्रिय ज्ञान से देखे हुए पदार्थ छद्मस्थबुद्धि से कभी खण्डित नहीं हो सकते । श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार की सर्वश्रुत–अभ्यन्तरता एवं सर्वश्रुत–व्यापकता आप्त वचन से सिद्ध है । उन्हें युक्ति अथवा तर्क के आधार की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं है । इस पर भी आप्त वचन की महत्ता अभी तक जिनके ध्यान में नहीं आई है, उस बुद्धिजीवी वर्ग के अनुग्रह के लिए पंच परमेष्ठि–नमस्कार की श्रेष्ठता तथा सर्व-धर्म-व्यापकता सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने प्रतिपादन करने में कसर नहीं रखी है ।

धर्म बीज का वपन

आचार्य भगवान श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने **'श्री ललितविस्तरा'** नामक चैत्यवन्दन सूत्र की वृत्ति (पृ0 8)में कहा है कि **'धर्मं प्रति मूलभूता वन्दना'** अर्थात् धर्मप्राप्ति का मूलभूत कारण वन्दना है, जिसका दूसरा नाम नमस्कार है । कहा है कि–

'विधिनोप्ताद्यथा बीजादङ्कुराद्यादयः क्रमात् ।
फलसिद्धिस्तथा धर्मबीजादपि विदुर्बुधाः ।।'

अर्थ :– ज्ञानी कहते हैं कि विधिपूर्वक बोए बीज से जिस प्रकार अंकुरादि का उदय होता है, वैसे ही धर्मबीज से भी अनुक्रम से मोक्षरूपी फल की सिद्धि होती है ।

सत्पुरुषों की प्रशंसादि करना धर्मबीज का वपन है, धर्मचिंतादि उसके अंकुर हैं एवं निर्वाण की प्राप्ति उसका फल है । यह प्रशंसा अर्थात् वर्णवाद एवं आदि शब्द से उनके प्रति कुशलचित्त, उचित कृत्यकरण आदि समझना चाहिए ।

सत्पुरुषों के प्रति मन से कुशलचित्त धारण, काया से उनका उचित कृत्य करना एवं वाणी से उनकी प्रशंसा आदि करना ही हृदय

रूपी भूमिका में धर्मबीजवपन करने की शुभ क्रिया है । धर्मचिंतादि उसके अंकुर हैं, उसमें धर्म की चिन्ता एवं आदि शब्द से धर्म की अभिरुचि इत्यादि को धर्मबीज के अंकुर जानना चाहिए । धर्म की चिंता के पश्चात् धर्म का श्रवण होता है, धर्म का श्रवण होने के पश्चात् धर्म के अनुष्ठान होते हैं । उसके फलस्वरूप देव एवं मनुष्य की संपदायें मिलती है एवं परिणामस्वरूप निर्वाणसुख की प्राप्ति होती है । ये सब धर्मबीजों में से क्रमशः उत्पन्न होने वाले अंकुर, काण्ड, नाल, पुष्प एवं फल स्वरूप हैं ।

बीजांकुर–न्याय

पंच परमेष्ठि–नमस्कार बीजरूप बनकर काल के परिपाक से निर्वाण रूपी फल का कारण बनता है । अतः उसकी परम जिज्ञासा भी (वस्तु के सत्य स्वरूप को जानने की इच्छा) परम महोदय को बतानेवाली है । सच्ची जिज्ञासा होने के पश्चात् सद्गुरु का योग होता है ।

सद्गुरु के योग से परमेष्ठि–नमस्कार के स्वरूप का बोध तथा उसमें स्थैर्य उत्पन्न होता है । इस स्थैर्य के योग से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार क्रिया होती हैं एवं इस क्रिया के प्रभाव से कर्ममल घटता है । परिणामस्वरूप निर्वाणसुख की प्राप्ति होती है । परमेष्ठि–नमस्कार शास्त्रों में चिंतामणि एवं कल्पवृक्ष से भी अधिक फलदायी कहा गया है–इस अपेक्षा से यह वपन चरितार्थ होता है ।

सूर्य–खद्योत दृष्टांत

तर्कानुसारी के प्रति जिस प्रकार बीजांकुर न्याय से नवकार की सर्वधर्म व्यापकता सिद्ध होती है, वैसे ही सूर्य–जुगनू के दृष्टांत से भी शास्त्रकार भगवंत श्री नमस्कार मंत्र की श्रेष्ठता सिद्ध कर बताते हैं । आचार्य भगवन्त **श्री हरिभद्रसूरिजी 'योगदृष्टि समुच्चय'** नामक ग्रंथरत्न में कहते हैं कि–

तात्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया ।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ।।

अर्थ :– तात्त्विक पक्षपात एवं भावशून्य क्रिया–इन दोनों के बीच सूर्य एवं जुगनू जितना अंतर समझना चाहिए ।

यहाँ पक्षपात का अर्थ है शुभेच्छा, अन्तरंग आदर, परमार्थ, अनुराग । नमस्कार से परमेष्ठी एवं उनके गुणों के प्रति परमार्थ राग सूचित होता है, अन्तरंग आदर दर्शित होता है ।

संसार में जैसे भाव रहित भोजन रूखा होता है, वैसे ही लोकोत्तर में भावरहित भक्ति व्यर्थ है । परमेष्ठियों के प्रति भाव बिना, अन्तरंग आदर बिना, उनकी आज्ञा का पालन भी वैसा ही है । नमस्कार हृदय के भाव का उत्पादक है, हृदय के भाव का पूरक है अथवा हृदय के भाव का सूचक है । इसी कारण बुद्धिमान पुरुषों ने उसे सर्वप्रथम स्थान दिया है ।

संवेदन प्रधान वर्ग

आज्ञाप्रधान एवं युक्तिप्रधान वर्ग के पश्चात् एक बड़ा वर्ग ऐसा है कि जो केवल संवेदन प्रधान होता है । शास्त्रवचन की अपेक्षा अथवा उन वचनों को सिद्ध करनेवाली युक्तियों की अपेक्षा यह वर्ग दृष्टांत, कथानक अथवा चरित्र से अधिक आकर्षित होता है । इस वर्ग को शास्त्र–वचन अथवा हेतु, युक्तियों की अधिक अपेक्षा नहीं होती ।

जिस क्रिया से लोगों को लाभ पहुँचा हुआ हो, उसके कथानक अथवा चरित्र सुनकर वह वर्ग उसकी ओर आकर्षित होता है । ऐसा वर्ग प्रमाण में हमेशा बड़ा होता है, वह वर्ग संवेदनशील होता है । बहुधा बुद्धिजीवी वर्ग में जो संवेदनशीलता दिखाई नहीं देती, वह संवेदनशीलता इस वर्ग में दिखाई देती है एवं संवेदनशीलता के बल पर ही यह वर्ग, धर्म के प्रति आकर्षित होता है । इस वर्ग को नमस्कार की व्यापकता समझाने के लिए शास्त्रकार भगवान ने बहुत से दृष्टांत, कथानक एवं चरित्र कहे हैं ।

कथानुयोग का प्रभाव

नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से सर्प धरणेन्द्र बनता है एवं चील राजकुमारी के रूप में जन्म लेती है । जंगल का भील राजा बनता है एवं उसकी स्त्री भीलनी राजरानी के रूप में उत्पन्न होती है । पशु पालक गोवालबाल परमशीलसम्पन्न सुदर्शन सेठ बनता है एवं भयंकर कोढ़ी परमरूप एवं लावण्यसंम्पन्न श्रीपाल कुमार बनता है । श्री नमस्कार मंत्र के प्रभाव से घोर विपत्ति में पतित जुआरी भी प्राणान्त आपत्ति से उबर गए हैं । सुशील एवं सम्यग्दृष्टि महासतियों को जब पति आदि की तरफ से प्राणान्तकारी आपत्तियाँ दी गईं । तब नमस्कार द्वारा ही उनका रक्षण हुआ है । इसी मंत्र से श्मशान में स्थित शव सुवर्ण पुरुष बने हैं तथा अंधकार में स्थित सर्प दिव्य सुगंधयुक्त पुष्पमाला बना है ।

ये दृष्टान्त कोरे बुद्धिजीवी वर्ग पर कदाचित् कम प्रभाव उत्पन्न करते हों, पर संवेदनशील विशाल जनता पर उनका भारी प्रभाव पड़ता है । जैन कुल में उत्पन्न आम वर्ग पर श्री नमस्कार महामंत्र का प्रभाव आज भी अपना प्रबल प्रभाव पैदा कर रहा है । उसके पीछे इन चरित्रों एवं कथानकों का बहुत अधिक प्रभाव है । बुद्धिजीवी वर्ग पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने का कारण उसकी बुद्धिजीविता नहीं, पर कुछ अंश में संवेदनहीनता भी है, ऐसा मानना चाहिए । बुद्धिजीवी वर्ग में अग्रणी सभी पूर्व महापुरुषों पर इस मंत्र का प्रभाव पड़ा है एवं उसके प्रभाव का वर्णन करने वाले चरित्रों ने उनके जीवन को नमस्कार मन्त्र से भावित करने हेतु बड़ी सहायता की है ।

सच्ची बुद्धि एवं उसका फल

संवेदनहीन बुद्धिमत्ता बाह्य दृष्टि से चाहे जैसी आकर्षक दिखती हो पर आन्तरदृष्टि से, उसका कुछ भी मूल्य नहीं । आज्ञा एवं युक्ति

से सिद्ध परमेष्ठि–नमस्कार के फल का वर्णन करते हुए चरित्र एवं कथानकों का प्रभाव जिनके अंतःकरण पर उत्पन्न नहीं होता, उनकी बुद्धि उनके लिए केवल भाररूप होती है । वे बुद्धि के फलस्वरूप भाव एवं भाव के फलस्वरूप मोक्ष से सदा वंचित रहते हैं । सच्ची बुद्धि वही है कि जो सद्वस्तु को सिद्ध करनेवाली युक्ति के प्रति एवं सद्वस्तु के प्रभाव का वर्णन करनेवाले चरित्र, कथानक, दृष्टांत के प्रति सद्भाव को उत्पन्न कर सके एवं वस्तु को पहिचानने के लिए सभी पक्षों का एक–सा मूल्यांकन कर सके ।

भील एवं गोपाल मनुष्यों के तथा सर्प, चील आदि तिर्यंचों के उदाहरण यह बताते हैं कि श्री नमस्कार मंत्र का प्रभाव अधमाधम मनुष्यों एवं क्रूरातिक्रूर तिर्यंचों पर भी पड़ा है । चोर, व्यभिचारी, जुआरी एवं शिकारी जैसे महाव्यसनी भी नमस्कार मंत्र के प्रभाव से भवसमुद्र से तिर गए हैं ।

इस प्रकार शास्त्र–वचन, तर्क–बुद्धि एवं स्वानुभवसंवेदन–इन तीनों से सिद्ध श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार का प्रभाव सभी काल एवं सभी लोक में सभी विवेकी आत्माओं के अंतःकरण पर जयवन्त हो रहा है ।

पंच परमेष्ठी को किया गया नमस्कार सभी पापों का
नाश करता है, क्या यह चमत्कार नहीं है ?
जिनागम और जिनबिंब दोनों भक्ति के साधन हैं ।
एक जिनमंदिर का निर्माण लाखों आत्माओं के लिए
समकित का कारण बनता है ।
जिनप्रतिमा तिजोरी तुल्य है और जिन आगम
हिसाब-किताब के चोपड़े हैं ।

17. नमस्कार मनुष्य का स्वभाव-सिद्ध धर्म

अपने से महान्, पवित्र एवं निर्मल आत्माओं को नमस्कार करने की प्रथा मानवसृष्टि में नई नहीं है किन्तु अनादि काल से चल रही है। महापुरुषों के पवित्र व्यक्तित्व का आकर्षण ही कुछ ऐसा है कि भक्तिशील व्यक्ति अपने आप उनके चरण–कमलों में नतमस्तक हो जाते हैं। वे नमस्कार के रूप में सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। आत्मोन्नति की साधना हेतु उत्कंठित साधक के हृदय में आत्मनिष्ठ महापुरुषों के प्रति भक्ति एवं समर्पण का भाव स्वयमेव जाग्रत हो जाता है।

जब तक इष्टतम को नमस्कार नहीं किया जाए तब तक उसके मन को शांति प्राप्त नहीं होती। आराध्यतम आत्माओं को नमन करने के साथ आराधक आत्मा की अंतरात्मा में दिव्य शांति विस्तृत हो जाती है एवं संसार के उपद्रवों से क्षुब्ध अन्तःकरण, नमस्कार के पात्र को नमस्कार करने से स्वस्थ एवं प्रसन्न होता है। इसमें यह निश्चित होता है कि उत्तम आत्माओं को नमस्कार करना केवल धार्मिक रिवाज या औपचारिक सभ्यता ही नहीं किंतु मनुष्य प्रकृति में स्थित एक उत्तम स्वभावसिद्ध सहज धर्म है।

श्री जिनागमों में परमेष्ठि–नमस्कार को महाश्रुत–स्कंध रूप में वर्णन किया है। प्रत्येक शास्त्र के प्रारंभ में उसे स्थान दिया है, इसलिए वह समस्त श्रुत–स्कंध में अन्तःस्थित है। जहाँ–जहाँ शास्त्रों के नामों का स्मरण किया गया है, वहाँ–वहाँ दूसरे शास्त्रों के साथ नमस्कार की स्वतंत्र गणना नहीं की गई, वह यह बताने के लिए कि नमस्कार मंत्र सर्व श्रुतस्कंधों में व्याप्त है। श्रीमद् **अभयदेवसूरीश्वरजी** म0 श्री **भगवती सूत्र** की टीका में कहते हैं–**अत एवायं समस्त–श्रुतस्कन्धानामादावुपादीयते, अत एव चायं तेषामभ्यन्तरतयाऽभिधीयते, यदाह सो सव्वसुयक्खंधबभंतरमओ त्ति'** (पृ0 2)

अर्थ :– इसी कारण यह परमेष्ठिनमस्कार समस्त श्रुतस्कंधों (उन समस्त शास्त्रों) के आरंभ में ग्रहण किया जाता है एवं इसीलिए उसकी सर्वश्रुत अभ्यन्तरता गिनी जाती है । कहा है **'वह सर्वश्रुतस्कंधों में अभ्यंतरभूत है'** इत्यादि ।

परमेष्ठी पाँच हैं–अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु । ये पाँच विश्व की महान् आत्माएँ हैं । शास्त्रों में उनका अत्यंत ही गुणगान किया गया है । ये कोई व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं । परंतु आध्यात्मिक विकास होने से प्राप्त पाँच मंगलमय उच्च पदों के सर्वोच्च स्थानों के नाम हैं ।

श्री जिनेश्वर देवों द्वारा स्थापित धर्म कोई व्यक्तिगत धर्म नहीं है, किंतु आंतर–शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए विश्वव्यापी राजमार्ग है । इन्द्रियों पर, इन्द्रियों के विकारों पर, मन पर, मन की मलिन वासनाओं पर एवं इनके कारणभूत कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के श्रेष्ठ मार्ग का ही नाम जैन धर्म है ।

जैन धर्म का यह मन्तव्य है कि संसार का कोई प्राणी जो स्वयं पर, अपनी इन्द्रियों पर एवं मन पर, विकारों एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करे, तो वह अभिनन्दन का पात्र है । महात्मा रूप में एवं परमात्मा तक के रूप में पूजा के योग्य है ।

परमेष्ठि–नमस्कार में इसी कारण किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं, परंतु केवल आध्यात्मिक भूमिकाओं का वर्णन है । सर्वकाल एवं सर्वलोक में जो कोई आंतर शत्रुओं के विजेता हुए हैं, होंगे एवं हो रहे हैं, उसमें उन सबको नमस्कार किया गया है । जैन धर्म की यह भव्य एवं उदात्त भावना समष्टि उपासना का सुंदर एवं भाव–भरा चित्र है ।

'नमो लोए सव्व–साहूणं' इस पद में स्थित **'लोए'** एवं **'सव्व'** शब्द की व्याख्या करते हुए श्री भगवती सूत्र की टीका में कहा

है कि–**'लोके–मनुष्य लोके, न तु गच्छादौ, ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नमः।'**

अर्थ :– 'लोके' अर्थात् मात्र गच्छ में स्थित नहीं, किंतु मनुष्य लोक में जो कोई साधु हुए हैं, होंगे अथवा हैं, उन सबको नमस्कार हो।

इस पर कुछ लोग शंका करते हैं कि अरिहंत आदि महान् हैं, पवित्र हैं, सर्वगुण सम्पन्न हैं, परंतु उससे दूसरों को क्या लाभ ? जब वे स्वयं वीतराग होने से भक्त को स्वर्ग अथवा मोक्ष भी प्रदान नहीं कर सकते हैं, तो फिर उन्हें नमस्कार करने से क्या लाभ ?

इसका उत्तर एक ही है कि पवित्रतम आत्माओं को नमस्कार करना विवेकी मनुष्य मात्र का स्वभावसिद्ध धर्म है। आदर्श स्वरूप महान् आत्माओं को नमस्कार करना, पूजा करना सहृदय मानव का एक स्वतंत्र एवं सहज सिद्ध भाव है, इसमें देने–लेने का कोई प्रश्न ही नहीं। गुणीजनों को देखकर हृदय में प्रमोद होना मानव आत्मा का दिव्यगान है, गुणवान आत्माओं को पुनः–पुनः नमस्कार करने से आत्मा उनके गुणों की तरफ आकर्षित होती है, अंतर से उनके जैसा बनने की इच्छा करती है। उपास्य के गुण अपने में भी आए, इस हेतु अभिरुचि जगती है।

भक्त से भगवान एवं आत्मा से परमात्मा बनने के लिए नमस्कार एक राजमार्ग है। ध्येय के अनुसार ध्याता अन्त में ध्येय स्वरुप बन जाता है, यह एक सनातन सत्य है। उसका साक्षात्कार नमस्कार से होता है।

नमस्कार, नमस्कार के पात्र से कुछ लेने के लिए नहीं है, किन्तु अपनी आत्मा को नमस्कार्य स्वरूप बनाने हेतु है। भाव विशुद्धि हेतु, पवित्र एवं आदर्शभूत पुरुषों को नमस्कार करना, बारम्बार झुकना मानव–जीवन का एक पवित्रतम कर्त्तव्य है।

नमस्कार का यह आन्तरिक रहस्यभूत भाव है एवं वह श्री नमस्कार महामंत्र के पवित्र पदों द्वारा सूचित होता है ।

संसार में अनन्तानन्त आत्माएँ हैं । चार गति, पाँच जाति एवं चौरासी लाख जीव योनियों में अपने–अपने कर्मानुसार जीव सुख–दुःख भोग रहे हैं । उनमें से अनन्त आत्माएँ ऐसी हैं कि जो संसार यात्रा को पार कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त बन कर अजरामर पद को प्राप्त कर चुकी हैं । इस प्रकार कर्मबद्ध एवं कर्ममुक्त दोनों प्रकार की आत्माएँ लोक में हैं, परंतु उनमें से जो जीव, मुक्त हो चुके हैं एवं मुक्त होने हेतु सतत प्रयत्नशील हैं, वे ही नमस्कार के पात्र हैं । जैनशास्त्रों में उन्हें पंचपरमेष्ठी कहा गया है ।

इसका अर्थ यह है कि संसार की अनन्तानंत आत्माओं में आध्यात्मिक दृष्टि से पाँच प्रकार की आत्माएँ सर्वश्रेष्ठ हैं, सबसे महान् हैं, सर्वोच्च दशा को प्राप्त एवं प्राप्त होने वाली हैं परमपद पर पहुँची हुई एवं पहुँचने वाली हैं, अर्थात् पवित्र स्वरूप को प्राप्त कर चुकी हैं एवं प्राप्त करने वाली हैं । अन्य वासना–मग्न आत्माओं की अपेक्षा आध्यात्मिक विकास की उच्च भूमिका पर स्थित हैं । अरिहंत आदि पाँच पदों द्वारा संसार की सर्वोच्च आत्माओं का संग्रह किया गया है ।

दूसरी तरफ संसार के बड़े–से–बड़े पद इन्द्र एवं चक्रवर्ती के हैं जो इन पदों को प्राप्त आत्माओं के आगे अल्प हैं, तुच्छ हैं एवं हीन हैं भौतिक सत्ता के बड़े–से बड़े प्रतिनिधि असंख्य देवी–देवताओं पर शासन चलाने वाले स्वर्ग के इन्द्र भी त्यागमार्ग के प्रतिनिधि स्वरूप इन पाँच महान् त्यागी वर्ग के समक्ष नतमस्तक होते हैं । नमस्कार महामंत्र में इन पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है अतः उसे **परमेष्ठी–मंत्र** भी कहा गया है ।

जीवत्व की दृष्टि से सभी जीव समान हैं, फिर भले ही वह

बद्ध हो अथवा मुक्त, जो जीव अपनी अपेक्षा ज्ञानादि से हीन एवं अपने से राग–द्वेषादि में अधिक हैं वे आध्यात्मिक मार्ग में अवंदनीय हैं । जो ज्ञानादि से महान् हैं एवं राग–द्वेषादि से रहित है वे त्रिकाल वंदनीय हैं ।

अरिहंत एवं सिद्ध आदि पूर्ण रूप से रागादि से रहित एवं ज्ञानादि से पूर्ण हैं । आचार्य, उपाध्याय, साधु प्रायः एकदेश से रागादि की हीनता एवं ज्ञानादि की विशेषतावाले हैं । इस प्रकार जैनधर्म के प्राणभूत वीतरागभाव एवं सर्वज्ञभाव सर्व रूप से अथवा अधिकांश रूप से इन पाँचो पदों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हैं ।

अन्य प्रकार से जैनधर्म के मूल तत्त्व तीन हैं–देवतत्त्व, गुरुतत्त्व एवं धर्मतत्त्व । उनमें अरिहंत एवं सिद्ध, आत्मविकास की पूर्ण अवस्था, परमात्म दशा पर पहुँचे हुए हैं अतः पूर्ण रूप से पूज्य हैं एवं देवतत्त्व की कोटि में गिने जाते हैं ।

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु आत्म–विकास की अपूर्ण अवस्था में होते हुए भी पूर्णता हेतु सतत प्रयत्नशील होने से पूज्य हैं एवं अपनी ऊँची श्रेणी वालों के वे पूजक भी हैं अतः उनका गुरुतत्त्व में समावेश किया गया है । पुनः सर्वत्र व्यक्ति के भाव रूप में लक्षणा की जा सकती है अतः अरिहंतादि उन–उन पदों में लक्षणा से अर्हद्भाव, सिद्धभाव, आचार्यभाव, उपाध्यायभाव, एवं साधुभाव ग्रहण किए जा सकते है । इसका अर्थ है कि यह नमस्कार अर्हद्भाव को है ।

इस प्रकार लक्षणा से पाँचों में स्थित अर्हदादि नमस्कार का लक्ष्य बिन्दु है एवं यह भाव ही धर्म–तत्त्व है । अहिंसादि धर्म एवं ज्ञानादि आत्म–भाव पाँचों पदों के प्राण हैं, अर्थात् नमस्कार मंत्र में देव–तत्त्व एवं गुरुतत्त्व के साथ धर्मतत्त्व का भी अन्तर्भाव हो जाता है एवं देवतत्त्व तथा गुरुतत्त्व के साथ धर्मतत्त्व को भी नमस्कार कर लिया जाता है ।

यह नमस्कार सूत्र समस्त जैन आराधनाओं का केन्द्र है । अरिहंतादि पाँच पद एवं उनमें निहित भाव सर्व साधकों के लिए आराध्य है । अतः प्रत्येक कार्य के प्रारंभ में सर्वप्रथम उनको नमस्कार करने के द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है । उठते समय, सोते समय, शुभ कार्य करते समय, स्वाध्याय करते समय, प्रतिक्रमण करते समय , विहार के समय अथवा गोचरी के समय सर्वत्र नमस्कार महामंत्र की मंगल ध्वनि गूँजती ही रहती है ।

प्रत्येक कार्य करते समय महान् पवित्र आत्माओं के प्रति श्रद्धा–भक्ति प्रदर्शित करने से मोहांधकार दूर होता है । अज्ञान, संशय, विपर्यय आदि अज्ञान का नाश होता है । **इससे आत्मशक्ति का विकास होता है, जिससे दुःखों का अंत होता है ।** दुःख का मूल अज्ञान, संशय अथवा विपरीत ज्ञान है । अतः इससे आत्मशक्ति का ह्रास होता है । जहाँ इन सबका अभाव हो, वहाँ दुःख टिक नहीं सकता ।

अन्त में, वस्तु चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हो, पर जब तक उसके महत्त्व का व्यवस्थित रीति से निरूपण नहीं किया जाए, तब तक जनसमूह का उसके प्रति आकर्षण नहीं हो सकता । इस उपदेश की पूर्ति हेतु श्री नमस्कार महामंत्र की चूलिका है । चूलिका में पाँचों परमेष्ठी को किए नमस्कार का फल प्रकट रूप से बताया गया है । सर्व विघ्नों का नाश एवं सर्व मंगलों का आगमन इन पाँचों को किए गए नमस्कार का स्पष्ट फल है । इस प्रकार चूलिका सहित मूल मंत्र श्री **पंच मंगल महाश्रुत स्कंध** रूप में जैन परंपरा में प्रसिद्ध है ।

18. महामंत्र की सर्वश्रेष्ठ उपादेयता

किसी भी वस्तु की उपादेयता उसके फल पर निर्भर है । जिसका फल सर्वश्रेष्ठ हो उसी के विषय में बुद्धिमान पुरुषों की प्रवृत्ति सर्वाधिक होती है, यह नियम सभी क्षेत्रों में एक समान लागू पड़ता है, फिर भले ही वह क्षेत्र धार्मिक हो अथवा सांसारिक ।

जिससे उभय लोक में कल्याण होता हो, वह धार्मिक क्षेत्र कहलाता है । जिससे केवल इस लोक में सुख की सिद्धि हो, वह क्षेत्र सांसारिक है । इस लोक के समस्त प्रयोजनों की सिद्धि का उपाय मुख्य रूप से धन है । अतः धनोपार्जन हेतु संसारी लोगों की प्रवृत्ति विशेष रूप से झुकी रहती है । जिनके मन में इस लोक के साथ परलोक के प्रयोजन की सिद्धि का भी हेतु रहा हो, वे धनार्जन के साथ धर्मोपार्जन हेतु भी सतत प्रयत्नशील रहते हैं ।

जिस प्रकार धनार्थी सभी प्रकार के धन में रत्नों को मुख्य स्थान प्रदान करता है क्योंकि उनका भार अल्प एवं मूल्य अधिक होता है वैसे ही धर्म का अर्थी बुद्धिमान मनुष्य भी हमेशा अल्पभारी एवं बहुमूल्य वस्तु को ही अधिक चाहता है ।

श्री नमस्कार महामंत्र को शास्त्रकारों ने ऐसी ही उपमा प्रदान कर उसकी स्तुति की है । कहा है कि–

रत्नतणी जेम पेटी, भार अल्प बहुमूल्य,
चौद पूर्वनो सार अे, मंत्र छे तेहने तुल्य,
सकल समय अभ्यंतर, पद अे पंच प्रमाण,
महासुअखंध ते जाणो, चूला सहित सुजाण ।

–उपाध्याय श्री यशोविजयजी मं०

यहाँ नमस्कार मंत्र को केवल रत्न ही नहीं, परंतु रत्नों की पेटी कहा है एवं उसके प्रत्येक अक्षर को महामूल्यवान रत्न की उपमा

प्रदान की है । इससे आगे बढ़कर नमस्कार मंत्र को चौदह पूर्व के तुल्य कहा गया है, क्योंकि चौदह पूर्वों द्वारा पुरुषों को जो प्रयोजन–साधना इष्ट हो वह, अवस्था–विशेष में केवल एक नमस्कार मंत्र से सिद्ध हो जाता है ।

नमस्कार मंत्र के पाँच पद समस्त सिद्धांतों से समन्वित हैं, क्योंकि इन पाँच पदों का स्मरण, ध्यान, उच्चारण किए बिना किसी सिद्धांत का पठन नहीं हो सकता । श्रुतकेवली भगवान श्री **भद्रबाहुस्वामीजी** ने सर्वप्रथम श्री नमस्कार मंत्र की निर्युक्ति की रचना की थी एवं उसके पूर्व अथवा उसके पश्चात् भी किसी भी सूत्र की व्याख्या करने से सबसे पहले श्री नमस्कार मंत्र की व्याख्या आदि करना ही शिष्ट पुरुषों की मान्य परंपरा है ।

प्रारंभ के पाँचों पद एवं चूलिका के चारों पद मिलाकर प्रारंभ में नमस्कारमंत्र को श्री महानिशीथ आदि–आगमों में महाश्रुत–स्कंध कहा गया है एवं उसके अतिरिक्त अन्य आगमों को केवल श्रुतस्कंध ही कहा गया है ।

श्री महानिशीथ–सूत्र में इस नमस्कार महामंत्र को स्पष्ट रीति से नवपद, अड़सठ अक्षर एवं आठ संपदा वाला कहा है । कहा गया है कि यह नमस्कार मंत्र, जिसका दूसरा नाम–श्री पंच मंगल महाश्रुत–स्कंध है, का व्याख्यान महाप्रबंध (विस्तार) से, सूत्र पृथग्भूत निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णिका द्वारा अनन्तगमपर्यव सहित जिस प्रकार से अनन्त ज्ञान–दर्शनधारी श्री तीर्थंकर देव द्वारा किया गया है, उसी प्रकार संक्षेप में भी करवाया गया था, परंतु काल–परिहानि दोष से वे निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णिकाएँ नष्ट हो गई हैं । भूतकाल में पदानुसारी लब्धि को धारण करने वाले एवं द्वादशांग सूत्र को धारण करने वाले श्री वज्रस्वामी हुए । उन्होंने इस पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का उद्धार कर श्री **महानिशीथ** सूत्र में मूलसूत्र को लिखा । यह श्री महानिशीथ श्रुतस्कंध समस्त प्रवचन का सारभूत, परम तत्त्वभूत अतिशय सम्पन्न, अत्यंत महान् अर्थ से भरा हुआ है । उसमें निम्न प्रकार से श्री नमस्कार सूत्र का व्याख्यान किया गया है ।

प्रश्न–हे भगवन्! इस अचिंत्य चिंतामणि कल्प श्री पंचमंगल-महाश्रुत स्कंध का क्या अर्थ है ?

उत्तर–है गौतम ! अचिंत्य चिंतामणिकल्प श्री पंचमंगलमहाश्रुत–स्कंध सूत्र का अर्थ इस प्रकार कहा गया है–यह पंचमंगल महाश्रुत स्कंध तिलों में तैल की तरह, कमल में मकरन्द की तरह एवं लोक में पंचास्तिकाय की तरह सकल आगमों में रहा हुआ है एवं यथार्थ–क्रियानुवाद, सद्भूतगुण–कीर्तन स्वरूप तथा यथेच्छ फल प्रसाधक तथा परम स्तुतिवाद रूप है ।

जगत् में उत्तम पुरुषों की श्रेष्ठ स्तुति करनी चाहिए । जगत् में जो कोई उत्तम पुरुष हुए हैं, हो रहे हैं एवं होंगे, वे सब अरिहंतादि पाँच ही हैं, उनके सिवाय दूसरे नहीं हैं । वे पाँच अनुक्रम से अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु हैं । उन पाँचों का गाम्भीर्य–सद्भाव अर्थात् परम रहस्यभूत अर्थ निम्नानुसार है । तत्पश्चात् चूलिका सहित पाँचों पदों का विस्तृत अर्थ बताकर अन्त में कहा है कि–

'ताव न जायइ चित्तेण, चिंतिअं पत्थिअं च वायाए ।
काएण समाढत्तं, जाव न सरिओ नमुक्कारो ।।'

अर्थ :– चित्त से चिंतित, वचन से प्रार्थित एवं काया से प्रारब्ध कार्य तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक श्री पंच परमेष्ठी–नमस्कार का स्मरण नहीं किया जाता ।

वर्तमान श्री **महानिशीथ सूत्र** की मूल प्रति आचार्य श्री **हरिभद्रसूरिजी** ने मथुरा नगरी में श्री सुपार्श्वनाथ स्वामी के स्तूप के समक्ष पन्द्रह दिन उपवास कर शासन देवता के पास से प्राप्त की थी, परंतु दीमक आदि द्वारा खंडित एवं सड़े हुए पत्तों वाली होने से उन्होंने उसका संशोधन अपनी बुद्धि के अनुसार किया है । उसको दूसरे युगप्रधान श्रुतधर आचार्यों ने भी मान्य किया है ।

पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार रूप यह नमस्कार–मंत्र सभी मंत्रों में शिरोमणिभूत गिना जाता है । इसे छोड़कर स्वतंत्र रूप से

दूसरे मंत्रों का सेवन करना, कल्पवृक्ष को छोड़कर काँटेदार वृक्ष के सेवन के समान अनिष्टफलदाता ही कहा है । कहा है कि–

'तजे ए सार नवकार मंत्र, जे अवर मंत्र सेवे स्वतंत्र;
कर्म प्रतिकूल बाउल सेवे, तेह सुरतरु त्यजी आप टेवे'

नमस्कार मंत्र का यह महत्त्व यथार्थ रीति से समझने के लिए शास्त्रदृष्टि अथवा आगमानुसारी अति सूक्ष्म ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है । सभी समयों के स्व–पर आगमवेदी श्रुतधर महर्षियों ने अड़सठ अक्षर प्रमाण मात्र इस छोटे–से सूत्र को महामंत्र एवं महाश्रुत स्कंध के रूप में स्वीकार किया है । उसके मुख्य कारणों पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि धनवान की सेवा के बिना जिस प्रकार धन की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही धर्मवान की सेवा के बिना धर्म की प्राप्ति अशक्य है । पू. **श्री हरिभद्रसूरिजी** म. **'ललितविस्तरा'** नामक चैत्यवंदन सूत्र की टीका में कहते हैं कि–

'धर्मं प्रति मूलभूता वंदना' अर्थात् धर्ममार्ग में जीव को आगे बढ़ाने में मूलभूत कारण कोई भी हो पर वह धर्म, सिद्ध–पुरुषों को भाव से की गई वंदना ही है । इस वन्दना से आत्मक्षेत्र में धर्मबीज का वपन होता है एवं उसमें **'धर्मचिंतादि'** रूप अंकुर तथा धर्मश्रवण एवं धर्माचरण आदि रूप शाखा–प्रशाखाओं तथा स्वर्गापवर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति रूप फूल–फलादि प्रकट होते हैं ।

अरिहंतादि पाँच परमेष्ठियों का महत्त्व केवल धर्म–सिद्धि एवं धर्म की साधना के कार्य पर अवलम्बित है । इसलिए धन के अर्थी जीवों का धनवान के प्रति आदर की भाँति धर्म के अर्थी आत्माओं के लिए धर्म–साधक एवं धर्मसिद्ध पुरुषों के प्रति आदर अनिवार्य हो जाता है ।

दूसरे शब्दों में जिनको धनवान के प्रति आदर–बहुमान नहीं, वह धन का अर्थी है, यह सिद्ध नहीं होता । वैसे ही धर्मवान के प्रति जिसके मन में अंतरंग आदर भक्ति जाग्रत नहीं हो, तो उसे उसका इच्छुक भी माना नहीं जा सकता ।

धर्म के इच्छुक के लिए जिस प्रकार पंच परमेष्ठियों को नित्य अनेकशः नमस्कार करने का कार्य अनिवार्य हो जाता है, उसी प्रकार जिनमें धर्म की चाहना उस प्रमाण में जाग्रत नहीं हुई हो, उनमें भी जगाने के लिए पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार स्वरूप नमस्कार मंत्र स्मरणादि का आलंबन अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है ।

धर्म के प्रति प्रीति किसी के लिए सहज सिद्ध होती है, तो किसी के लिए प्रयत्न-साध्य भी होती है । ये दोनों प्रकार की प्रीति नमस्कार द्वारा सिद्ध होती हैं । इसलिए धर्मरूपी आंतर–धन की लालसा वाले सत्पुरुष नमस्कार के प्रति सदा आदर युक्त चित्त वाले रहें तो इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं ।

अंकगणित में 1 (एक) की संख्या का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व धर्मक्षेत्र में परमेष्ठि–नमस्कार का है । धर्ममय एवं धर्मस्वरूप परमेष्ठियों के प्रति नमन के भाव रहित धर्मानुष्ठान भी शून्य एवं निष्फल है । राख पर लिपाई अथवा ऊबड़–खाबड़ भीति पर चित्रकारी, जिस प्रकार टिक नहीं सकती वैसे, ही धर्मियों का नमस्कार रहित धर्मानुष्ठान भी क्षणजीवी होता है । मूलरहित वृक्ष अथवा नींव रहित मकान, नाश के लिए ही बना हैं, वैसे ही परमेष्ठियों के प्रति भक्ति–भाव रहित तप, जप, श्रुत अथवा चारित्र भी फल के अनुबंध से रहित होता है, जो ऊँचे चढ़ाकर नीचे गिरानेवाला होता है । श्री नमस्कार बृहद्फलप्रकरण में इसी अर्थ को बतानेवाली गाथा निम्नलिखित है–

सुचिरं पि तवो तवियं, चिन्नं चरणं सुयं च बहु पढियं ।
जइ ता न नमुक्कारे, रई तओ तं गयं विहलं ।।

अर्थ :– दीर्घ काल तक तप तपने, चारित्र पालने तथा बहुत शास्त्रों को पढ़ने पर भी यदि नमस्कार के प्रति प्रेम जागृत नहीं हुआ, तो सब निष्फल है ।

चतुरंग सेना में जिस प्रकार सेनानी मुख्य है वैसे ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप रूपी चतुरंग आराधना में नमस्कार मंत्र मुख्य है अथवा नमस्कार रूपी सारथी से चालित एवं ज्ञान रूपी अश्व से

संयुक्त तप, नियम तथा संयम रूपी रथ जीव को मुक्ति नगरी तक पहुँचाने में समर्थ हो सकता है , यह शास्त्रकारों का सिद्धांत है । अतः श्री जिनशासन में श्री नमस्कार महामंत्र को सबसे विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है एवं सभी आराधनाओं में उसकी गणना मुख्य रूप से मानी गई है । **'नव लाख जपंता नरक निवारे'** इत्यादि अनेक सुभाषित नवकार की श्रेष्ठता को सिद्ध करने हेतु प्रमाणरूप हैं । अंत समय में श्रुतधरों को भी शास्त्रकारों का आदेश है कि वे अन्य सब श्रुतों का अवलंबन छोड़कर केवल एक नवकार का ही अवलंबन लें ।

जब घर में आग लगती है, तब घर का स्वामी शेष वस्तुओं को छोड़कर समर्थ महारत्न को ही ग्रहण करता है अथवा रण-संकट में आपत्ति निवारण हेतु समर्थ सैनिक भी शेष शस्त्रों को छोड़कर केवल एक अमोघ शस्त्र को ही ग्रहण करता है ।

वैसे ही अंत समय में महारत्न के समान अथवा कष्ट के समय अमोघ शस्त्र के समान एक श्री नमस्कार मंत्र को ही ग्रहण करने की शास्त्र आज्ञा है । क्योंकि उसका भार अल्प एवं मूल्य अधिक है । भार कम है, क्योंकि उसके अक्षर अड़सठ ही हैं । मूल्य अधिक है, क्योंकि यह धर्म के मूल का सिंचन करता है ।

नमस्कार मंत्र धर्मप्रसाद की नींव का कार्य करता है, धर्मपुर में प्रवेश के लिए द्वार रूप बनता है एवं धर्मरत्न के संग्रह हेतु परम निधान रूप है । कारण यही है कि समस्त जगत् में उत्तम धर्म को साधे हुए, साध रहे एवं भविष्य में साधने वाले पुरुषों को यह प्रमाण रूप है; उनके प्रति हार्दिक नियम रूप है; उनके गुणों के भावपूर्वक समुत्कीर्तन स्वरूप है एवं यथेच्छ फल को साधनेवाला है ।

इस प्रथमाक्षर को सिद्ध किए बिना जो धर्म के अन्य अनुष्ठानों द्वारा यथेच्छ फलप्राप्ति की आशा करते हैं, वे बारहखड़ी पढ़े बिना सकल सिद्धांत के पारगामी बनने की मिथ्या आशा रखते हैं । नमस्कार धर्म गणित का प्रथमांक है अथवा धर्म–साहित्य की बारहखड़ी का प्रथम अभ्यास, जैसे बालक को कष्टदायी भासित होता है, वैसे ही धर्म

की अंकविद्या या बारहखड़ी स्वरूप नमस्कार का भी यथास्थित अभ्यास, बालक तुल्य जीवों के लिए अति कष्टसाध्य एवं अरुचिकर लगता है ।

इस कसौटी पर खरे सिद्ध हुए बिना धर्ममार्ग में न तो सच्ची प्रगति सिद्ध हुई है, न हो सकती है एवं न ही होगी, यह त्रिकाल सत्य है । नमस्कार के इस अभ्यास को कठिन या अरुचिकर मानकर जो छोड़ देता है अथवा उसकी उपेक्षा करता है, वह वास्तव में अपने धार्मिक जीवन की उपेक्षा करता है ।

श्री जैन शासन की प्रत्येक क्रिया के प्रारंभ में नमस्कार के स्मरण का आदेश है । इसके मूल में जो गंभीर रहस्य छिपा हुआ है, वह इससे स्पष्ट होगा । सोते, जागते, खाते, पीते, जीते व मृत्यु समय नमस्कार के प्रति चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास डालने का भाव, शास्त्रानुसारी मध्यस्थ दृष्टि से जीवों के ध्यान में तुरंत आ सकता है । इस बात को समझाने के बाद आत्महित के लिए विशेष अर्थी आत्माओं के लिए अधिकाधिक संख्या में नमस्कार गिनने का शास्त्रीय प्रतिपादन, कितने महत्त्व का है, यह तुरंत समझ में आ जाता है ।

अंत में, कलिकालसर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्रसूरिजी** म0 का श्री नमस्कार मंत्र को वर्णित करनेवाला यह अपूर्व श्लोक उद्धृत कर यह लेख पूरा करेंगे । वे कहते हैं कि–

कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतान्यपि ।
असुं मंत्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवंगताः ।।

अर्थ :– हजारों बार सैकड़ों जन्तुओं की हत्या करने वाले तिर्यंच जीव भी सम्यग् रूप से इस मंत्र का आराधन कर देवगति को प्राप्त हुए हैं ।

जिस प्रकार शास्त्रदृष्टि से नमस्कार मंत्र का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है वैसे ही मंत्रदृष्टि से इसका अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस पर स्वोपज्ञवृत्तियुक्त श्री **योगशास्त्र** नामक महाग्रंथ में कलिकालसर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्राचार्यजी** ने बहुत प्रकाश डाला है । उन्होंने नमस्कार मंत्र के विविध रीति से किए जाने वाले जाप का एवं उसके फल का वहाँ विस्तृत विवेचन किया है ।

19. आंतरिक-धन श्री नमस्कार

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी स्वरचित योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश में श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं–

'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्, परमेष्ठिस्तुतिं पठन्' !

अर्थात् श्रावक को नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए, ब्राह्म मुहूर्त में शय्या का त्याग करना चाहिए । नमस्कार अर्थात् विनय; विनय का अर्थ है एक ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्ययुक्त क्रिया जिससे आठों कर्मों का विलय हो ।

विनय का अर्थ है चित्त की अनुस्त्रोतवृत्ति, आत्मा का एक स्वच्छ परिणाम । क्लिष्ट कर्म का विनाश हुए बिना नमस्कार का परिणाम उत्पन्न नहीं होता । इस कारण नमस्कार का परिणाम आत्मा की निर्मलता का प्रतीक है ।

विनय धर्म का मूल है । **'विणय मूलस्स'** यह विशेषण धर्म का है एवं **'सींचे ते सुधारसेजी धर्म वृक्षनुं मूल'** यह भी कहा गया है कि इस विनय का फल शुश्रूषा है एवं शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान है । इस प्रकार क्रमशः विरति, आस्त्रव–निरोध, संवर, तप, सर्वसंवर एवं परिणामस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है । पुनः **'तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः।'** अर्थात् इस कारण सर्वकल्याणों का भाजन एक विनय गुण है, ऐसा दशपूर्वधर श्री **उमास्वाति** वाचकप्रवर **श्रीप्रशमरति प्रकरण** में भी कहते हैं ।

मोक्षमार्ग में विनय गुण की प्रधानता है, क्योंकि उसका परिणाम उत्तरोत्तर अत्यंत सुन्दर है । यह आत्मकल्याण का निर्विघ्न मार्ग है । इस गुण के पालन से ही भगवान श्री गौतम महाराजा का नाम मंगलमय माना जाता है । विनय के बिना संसार का कोई भी कार्य अथवा कला सिद्ध नहीं होती । विनय गुण के पालन बिना कदाचित् कोई गुण प्राप्त हो जाए, तो भी वह परिणाम में विनाशक बनता है,

क्योंकि उसमें खतरा है । इससे अभिमान की पुष्टि होकर परिणामस्वरूप पतन होता है । अतः विनय का पालन सर्वप्रथम करणीय है ।

परमेष्ठि–नमस्कार विनय गुण स्वरूप है । नमस्कार का स्वरूप एवं नमस्कार से होने वाला लाभ जो इस प्रकार बुद्धिपूर्वक सोचा जाए, तो नमस्कार के प्रति रुचि–प्रेम जागे बिना नहीं रहेगा एवं उसका अंत कोटि कल्प में भी नहीं होगा । वह प्रेम अनन्त, अक्षय एवं अभंग बन जाता है, क्योंकि प्रेम का विषय अरिहंतादि स्वयं ही स्वरूप से अनंत/अक्षय हैं । कहा है कि–

'उदक बिन्दु सायर मल्यो, जेम होय अक्षय अभंग;
वाचक यश कहे गुणे, तिम मुज प्रेम प्रसंग ।' (श्री अनन्तजिन स्तवन)

धनप्राप्ति आदि के लिए संसार में जो सोत्साह प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्ति का फल विश्वास है एवं इस विश्वास के कारण अनेक बार निष्फलता मिलते हुए भी उत्साह भंग नहीं होता । यहाँ नमस्कार के फल में विश्वास नहीं जगता एवं विश्वास नहीं होने से उत्साह प्रकट नहीं होता है ।

यहाँ एक बात यह भी है कि धन आदि के स्वरूप का पक्का ज्ञान होता है कि नोट (रुपया) मात्र कागज का टुकड़ा नहीं, परंतु हजार रुपए का नोट है । सोना–चाँदी केवल धातु के टुकड़े नहीं हैं, किन्तु वे एक ऐसी वस्तु हैं कि जिनसे सब काम सिद्ध होते हैं, जिससे कुटुम्ब में, समाज में एवं राष्ट्र में स्थान मिलता है एवं वह स्थान धन से ही टिकता है । जगत् में निर्गुणी जीव भी पूजे जाते हैं, उसमें धन का चमत्कार है, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता हैं ।

सामान्य मनुष्य गुण के पुजारी नहीं होते, परंतु धन के पुजारी होते हैं । यह सब प्रत्यक्ष दिखाई देने से उसमें उत्साहपूर्ण प्रवृत्ति, बिना किसी उपदेश के होती दिखाई देती है । बस, ऐसा ही विश्वास यहाँ आ जाता है कि बाह्य सुख का कारण धन है, पर उस धन का भी कारण धर्म है, तो धनप्राप्ति से भी धर्मप्राप्ति में उत्साह बढ़ जाता है । जिसके पास धर्म रूपी धन है वही वास्तव में धनिक है एवं

वर्तमान में जो धर्मधन की कमाई कर रहे हैं, वे ही भाग्यशाली हैं। भविष्य में वे बड़े धनवान होने वाले हैं।

धर्म बिना के धनी भविष्य में कंगाल होने वाले हैं। अज्ञानी जगत् धर्म के फल को देखता है, समझदार मनुष्य धर्म के मूल को प्रधानता देता है।

सर्व सिद्धियों का अमोघ बीज धर्म है। नमस्कार से धर्म रूपी कल्पवृक्ष के मूल का सिंचन होता है। यह विचार सूक्ष्म रूप से करना चाहिए। यहाँ बुद्धि को बराबर कसना चाहिए क्योंकि सूक्ष्म बुद्धि मिलने का खरा फल यही है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह नमस्कार धर्म है तो उसकी गिनती किस धर्म में हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म की आराधना तीन प्रकार से होती है, 1. करने से, 2. करवाने से और 3. अनुमोदना से। इन तीन प्रकार के धर्मों में नमस्कार द्वारा धर्म का जो तीसरा प्रकार अनुमोदना स्वरूप है, उसकी आराधना हो सकती है।

परिस्थिति ऐसी है कि प्रारंभ में धर्म थोड़ा ही किया जा सकता है क्योंकि धर्म महान् है एवं करने वाला स्वयं तुच्छ है। अपने को जो साधन मिले हैं वे भी तुच्छ हैं। प्रारंभ में अल्प साधनों द्वारा अनंत धर्म की पूर्ण आराधना शक्य नहीं है। व्यक्ति, सामर्थ्य के अनुसार धर्म का आचरण कर सकता है परंतु धर्म वस्तु आन्तरिक रूप से रुचिकर होने से मात्र अपने द्वारा किए गए अल्प धर्म से उसे संतोष नहीं होता। अर्थात् **''दूसरे भी इस सुन्दर वस्तु को करें''** ऐसी भावना से स्वयं को जो कोई सामग्री मिली है, उसका उसमें उल्लास से सदुपयोग करता है एवं मानता है कि इन नश्वर साधनों द्वारा यदि किसी को धर्ममार्ग में स्थिर किया जा सकता हो, तो वही उसका वास्तविक फल है।

मिट्टी में सोना प्राप्त करने तुल्य उसे लगता है एवं ऐसी भावना से उसकी आत्मा को एक बड़ा लाभ होता है। धर्मप्रेम के लिए,

धर्महेतु अपनी सामग्री का उपयोग करने से ऐसे शुभानुबंधी पुण्य का बंध होता है कि जिससे जन्मांतर में उत्तम कुल, सुदेव–गुरु–धर्म का योग अनायास ही मिल जाता है, सद्धर्म–पालन का सामर्थ्य प्रकट होता है एवं ऐसे सुयोग मिलते हैं कि जिससे वर्तमान की कमियाँ टल जाती हैं । यह करवाने रूप धर्म का फल है ।

मात्र करने से एवं करवाने से ही धर्म के प्रकर्ष को पहुँचा जाए, ऐसा नहीं है, परंतु धर्म के तीसरे प्रकार–अनुमोदना द्वारा चित्त को संतुष्ट करने वाली आराधना की जा सकती है । करने में यथाशक्ति शर्त है, करवाने में यद्यपि अनेक को कराया जा सकता है, तो भी उसमें सीमा है ।

यह सब करना और करवाना रूप धर्म इकट्ठा किया जाए, तो भी अनुमोदना रूप धर्म के सामने सागर के सामने एक बिंदु तुल्य भी नहीं होता है, क्योंकि अनुमोदना में देश–काल अथवा द्रव्य का कोई प्रतिबंध नहीं । वर्तमान में अपने आसपास होने वाले धर्म की अनुमोदना हो सकती है, वैसे ही भूतकाल में दूसरों द्वारा आचरित धर्म की भी हो सकती है । परिपूर्ण धर्म का जिन्होंने आचरण किया अथवा भविष्य में भी आचरण करने वाले हैं, उनकी भी अनुमोदना हो सकती है ।

इस भरत क्षेत्र के अतिरिक्त महाविदेह आदि क्षेत्रों में विचरण करते वर्तमान तीर्थंकरों के धर्म की भी अनुमोदना हो सकती है । संक्षेप में सर्वकाल में एवं सर्वक्षेत्र में रहे हुए, हो रहे एवं होने वाले धर्म की आराधना हेतु, अनुमोदना स्वरूप धर्म के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है । काल का प्रारंभ नहीं है । अनादि काल से सर्वक्षेत्रों में धर्माराधन होता आया है । उसमें परिपूर्ण धर्म को साधनेवाली भी अनंत आत्माएँ हुई हैं । उन सभी अरिहंत भगवन्त, सिद्ध भगवन्त, आचार्य भगवन्त, साधु भगवन्त, देशविरति धर्म पालनेवाले, सम्यग्दृष्टि देव–मनुष्य आदि एवं मार्गानुसारी आदि जीवों के धर्मों की आराधना, अनुमोदना के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं है । इन सब के धर्म का योग अनंत हो जाता है ।

अनुमोदना करनेवाला जिसकी अनुमोदना करता है, उसके धर्म का भागीदार बन जाता है । अनुमोदना रुचि के बिना नहीं होती है और जिसकी जैसी रुचि हो, उसी के अनुसार उसका निर्माण होता है । अनुमोदना से जीव का शुभ पुण्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह स्वयं आज एक बिन्दु स्वरूप है, पर अनुमोदना रूप धर्म मिल जाने से अक्षय व अनंत सागर स्वरूप बन जाता है ।

अनुमोदना के अनंत फल को ध्यान में रखकर शास्त्रकारों ने नमस्कार मंत्र का माहात्म्य गाया है । नमस्कार के एक–एक अक्षर के स्मरण से सात–सात सागरोपम के पाप टलते हैं । यह फल भी व्यवहार से है । यह फल अति अल्प गिना जाता है ।

वस्तुतः नमस्कार के एक–एक अक्षर के स्मरण से प्रत्येक समय अनंत–अनंत पाप की रज टलती है और जीव सर्वकर्मों का विच्छेद कर अल्प समय में मोक्ष के अनंत सुख को प्राप्त करता है, यह उसका पारमार्थिक फल है ।

जीव की मुक्ति आज तक नहीं हुई है, क्योंकि नमस्कार मंत्र में नमनीय पंच–परमेष्ठियों को भावपूर्वक एक बार भी जीव नमा नहीं है । अंतर से उनके प्रति नम्र बना नहीं है । परमेष्ठियों को भावपूर्वक नमने के परिणाम के अतिरिक्त जो धर्मक्रिया होती है, वह विशुद्ध नहीं परंतु अशुद्ध है, अभिमान की वृद्धि में हेतु है । आराधना के बढ़ने के साथ नम्रता बढ़ती है, तो समझना चाहिए कि धर्म की वृद्धि हो रही है । पर अधिकांशतः जीव नम्र बनने हेतु नहीं, किंतु सबसे अधिक श्रेष्ठ बनने और सभी को नमाने हेतु प्रयत्न करता है ।

इस कारण धर्म की प्रवृत्ति में भी, जहाँ नमना चाहिए वहाँ उसमें नम्रता का भाव नहीं आता है । यह सब अज्ञान–जनित अन्धापन है एवं उस अंधेपन की पुष्टि होती जाती है, अतः नम्रता नहीं आती एवं नम्र बने बिना धर्म में प्रवेश नहीं मिल सकता । यदि दृष्टि में गुणानुराग आ जाए, तो भावान्धता टल सकती है । यदि अपने में भरे हुए दोष एवं अशुद्धियाँ ध्यान में आ जाएँ, तो दृष्टि में गुणानुराग उत्पन्न हो सकता है ।

दृष्टि गुणानुरागी बन जाती है, तब गुणगणमणि के भण्डार सदृश अरिहंत उनको हजारों सूर्यों से भी अधिक देदीप्यमान–प्रतीत होते हैं, इस प्रतीति के बाद जब लघुता–नम्रता एवं अपना असामर्थ्य, सच्ची रीति से ध्यान में आ जाए, तो नमस्कार के लिए चिंतामणि एवं कल्पवल्ली की उपमा भी तुच्छ लगती है एवं अनादि का अंतर का अंधकार दूर किया जा सकता है ।

जगत् में अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों ने अपने जीवन में कैसा पुरुषार्थ किया है एवं आंतरिक शत्रुओं को जीतने के लिए कैसे–कैसे संग्राम लड़े हैं , कैसी कठोर साधना की है, अज्ञान में मग्न हुए जगत् पर उनकी कैसी करुणा है, इन सबका सच्चा ख्याल आने के बाद उनकी सब चेष्टाएँ करुणा रस की मूर्ति के समान प्रतीत होती हैं । उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ, केवल जगत्–कल्याण हेतु प्रतिभासित होती हैं एवं उनके पुरुषार्थ का विचार किया जाए, तो महान् आश्चर्य होता है ।

ऐसे कटु संसार में भी अमृतकुम्भ के समान ऐसी महान् आत्माएँ किस प्रकार उत्पन्न होती होंगी ? जगत् के स्वार्थमय शिक्षण से विलक्षण परमार्थ का शिक्षण उन्हें किसने प्रदान किया? जगत् के बीच में रहकर अपने मार्ग में वे किस प्रकार टिके रहे होंगे? उनका आंतर–बल कितना होगा? अपार दु:ख सहन करते समय तो आनन्द में मग्न रहकर जगत् के दु:ख पर विजय प्राप्त करवाने का मार्ग ऐसे पुरुषों के अतिरिक्त दूसरा कौन बताता ?

आज जो कोई सुख–शांति, दया, दान, परोपकार अथवा धर्म दिखाई देता है, वह उनके बिना उत्पन्न भी नहीं हो सकता है । इस प्रकार जहाँ कहीं जो कुछ अच्छा हो, वहाँ प्रत्येक स्थान पर उनकी करुणा के दर्शन हो सकते हैं । सर्वत्र अच्छा कहाँ से पैदा हुआ? उसका यही उत्तर आता है कि यह सब एक छोटे नमस्कार मंत्र से उत्पन्न हुआ है ।

यदि नमस्कार मंत्र नहीं होता, तो कदाचित् जगत् भले ही होता, पर जगत् में अच्छाई तो नहीं होती । जगत् में जो कुछ अच्छा

है, उसे नमस्कार मंत्र ने पैदा किया है, टिकाया है। उसका यश यदि दूसरे लेने जाते हैं, तो उसमें उनका अज्ञान ही कारणभूत है।

नमस्कार मंत्र कितना व्यापक है ? शासन तो अरिहंत का कहा जाता है। ये अरिहंत भी नमस्कार मंत्र के मात्र एक अंश रूप हैं। अनंत अरिहंत भी नमस्कार मंत्र के मात्र एक अंश रूप हैं। सभी जिनमंदिर भी नमस्कार मंत्र के अंश के भी अंश है। सभी साधु भी नमस्कार के अन्तर्गत आ जाते है। जगत् में जो कुछ अच्छा है, वह सब नमस्कार रूपी ईश्वर का सर्जन है। नमस्कार मंत्र में तीनों भुवनों की सभी अच्छी वस्तुएँ आ जाती हैं।

परमेष्ठी महान् ऐश्वर्यशाली हैं। उनको नमस्कार करने से आत्मा में गुण–लक्ष्मी उभरने लगती है।

बीजों में अंकुरित होने की योग्यता तो है, परंतु उसके लिए योग्य सामग्री की अपेक्षा रहती है। वैसे ही आत्मा में गुण–लक्ष्मी ठूँस–ठूँस कर भरी हुई है, पर उसे प्रकट करने के लिए सामग्री की आवश्यकता होगी। उन सामग्रियों में से एक, श्री पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करना ही है। जिनेश्वरों को भाव से नमस्कार करना, गुण- लक्ष्मी को प्रकट करने का एक मुख्य उपाय है। कहा है–

'योगना बीज तिहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामी रे'

नमस्कार की क्रिया से अनादि काल की दरिद्रता टल जाती है एवं आत्मिक गुणों के प्रवाह के प्रवाह उमड़ने लगते हैं। आंतरसंपत्ति का दर्शन होने से उसे बाह्य वस्तु की कमी की दीनता नहीं रहती। अतः कहा जाता है कि नमस्कार को गिनने वाला कभी भी दीन नहीं होता है। कहा है कि प्रभु की पहचान होने के साथ ही सभी प्रकार की दीनता चली जाती है। इससे आराधक आत्माएँ मुख्य माँग करती हैं कि–

'जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भुवं चक्रवर्त्यपि' अर्थात् जिनधर्म से रहित मैं, चक्रवर्ती भी बनना नहीं चाहता।

नमस्कार मंत्र एक आंतरिक धन है। पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से उसकी प्राप्ति होती है। ❑❑❑

20. नमस्कार की धारणा

शरीर के बाहर अथवा अंदर किसी एक स्थान में मनोवृत्ति को एकाग्र करने हेतु प्रयत्न करने का नाम ही धारणा है । कहा है कि–

'देशबंधश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् चित्त को किसी एक स्थान पर बाँधना ही धारणा है । धारणा के अभ्यासी को सिद्धासन, पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन आदि में से किसी एक आसन में बैठकर इन्द्रिय एवं मन को स्वस्थ करना चाहिए । नमस्कार की धारणा मुख्य रूप से नमस्कार–मंत्र के अक्षरों पर अथवा पंच परमेष्ठियों की आकृतियों पर करनी चाहिए एवं उन मूर्तियों अथवा अक्षरों को शरीर में अथवा बारह अष्टदल कमल पर स्थापित करना चाहिए । इस धारणा का प्रारंभ करने से पूर्व संसार के सभी विषयों के प्रति वैराग्य एवं पंच परमेष्ठियों के प्रति परम अनुराग प्रकट करना चाहिए । जहाँ संसार के सभी पदार्थ अनित्य, अशरण एवं दु:खदायक हैं, वहाँ पंच परमेष्ठी भगवान शाश्वत, शरणभूत एवं मंगलदायक हैं ।

धारणा का अभ्यास करते हुए वृत्ति में दो मुख्य दोष आते हैं, एक लय एवं दूसरा विक्षेप । निद्राधीनता लय है । धारणा के विषय को छोड़कर अन्य विषय के आकार में चित्त का परिणमन होना विक्षेप है ।

अजीर्ण, अल्पाहार, अतिश्रम आदि दोष लय के कारण हैं । उनका नाश करने के लिए हित–मित–भोजी होना, शक्ति से अधिक श्रम का त्याग करना, उचित निद्रा लेनी चाहिए । चित्त का तमोगुण कम हो, वैसे आहार–विहारादि का अभ्यास डालना चाहिए ।

विक्षेप दोष टालने हेतु एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए एवं वैराग्य तथा समभाव की भावना बढ़ानी चाहिए । लय एवं विक्षेप से अलग चित्त का तीसरा दोष भी है, जिसे कषाय कहते हैं । कषाय का अर्थ है तीव्र रागद्वेष । उसे धीरता एवं सावधानी से दूर करना चाहिए । राग के हेतु अनुकूल शब्दादि विषय हैं एवं उसके हेतुभूत शरीर, धन,

ध्यान तथा स्त्री–पुरुषादि हैं, द्वेष के हेतु उन्हीं के प्रतिकूल विषय हैं । विषय की असारता, तुच्छता एवं हानिकारकता पुनःपुनः विचार करने से कषाय दोष अर्थात् रागद्वेष की तीव्रता चली जाती है ।

इस प्रकार धारणा का अभ्यास दृढ़ करने के लिए विषय–विराग प्रबल करना चाहिए एवं ध्येय में प्रीति को दृढ़ करना चाहिए । ज्यों–ज्यों लय, विक्षेप एवं कषाय–दोष का ख्याल आता जाए, त्यों–त्यों उसके प्रतिपक्षी उपायों द्वारा उसका निवारण करते रहना चाहिए ।

धारणा का अभ्यास करने के पश्चात् प्रारंभ के कितने ही दिनों तक चित्त कुछ समय तक ध्येयाकार स्थिति में, कुछ समय तक लयावस्था में, कुछ समय विक्षेपावस्था में व कुछ समय कषायावस्था में रहता है । ज्यों–ज्यों वैराग्य भावना बढ़ती जाती है एवं ध्येय–विषय में प्रीति जमती जाती है, त्यों–त्यों लय, विक्षेप एवं कषायादि न्यून होने लगते हैं । धारणा का अभ्यास परिपक्व अवस्था प्राप्त होने से ध्यानाभ्यास का अधिकारी बन जाता है ।

धारणा सिद्धि हेतु वैराग्य भावना एवं भक्ति भावना को प्रबल बनाना आवश्यक है । वैराग्य भावना द्वारा विषयतृष्णा का उच्छेद होता है एवं भक्ति भावना द्वारा धर्मविषयक अरुचि एवं प्रमाद दोष टल जाता है ।

संसार में जीव के लिए एक ओर पाँच विषय हैं एवं दूसरी तरफ पाँच परमेष्ठी हैं । पाँच विषयों का आकर्षण अनादि से है । पाँच परमेष्ठी का आकर्षण, अभ्यास से साध्य है । विषयों के आकर्षण से जीव राग–द्वेष के वश होकर अनंत कर्मों को उपार्जित करता है एवं परमेष्ठियों पर के भक्ति भाव से जीव अनंत–अनंत कर्मों का क्षय करता है । कर्म के संचय से जीव जन्म–मरण के चक्कर में पड़ता है एवं कर्म के क्षय से जीव जन्म मरण के चक्कर से मुक्ति प्राप्त करता है । इस तत्त्व को समझ कर साधक को शास्त्र एवं गुरु के उपदेशानुसार पंच परमेष्ठि–नमस्कार की धारणा का अभ्यास करना चाहिए । चित्त में विषयराग के स्थान पर भक्तिराग समायोजित करने हेतु श्रद्धा एवं सावधानी पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । ❑❑❑

21. नमस्कार महामंत्र का ध्यान

'ध्यानं चैकाग्र्य संवित्ति ।'

(श्री ज्ञानसार, ध्यानाष्टक)

ध्यान का अर्थ है एकाग्र बुद्धि । विजातीय ज्ञान के अंतर रहित सजातीय ज्ञान की धारा ही ध्यान है । धारणा में ज्ञान की धारा, बीच–बीच में खंडित हो जाती है, वहाँ ध्यान में ऐसा नहीं होता । **पातंजल योगसूत्र** के अनुसार धारणा के विषय में चित्तवृत्तियों के प्रवाह को तैल की धारा की तरह अविच्छिन्न रूप से चालू रखना ही ध्यान है ।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'

(पातंजल योगदर्शन सू. 2–3)

चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने रूप आदि विषयों की तरफ स्वभाव से ही प्रबल वेग द्वारा धँसा करती हैं । इन्द्रियों का अनुसरण करनेवाला मन भी रात–दिन विषय–चिंतन में ही प्रवृत्त रहता है । अतः ध्यान का अभ्यास करनेवाले को विषयों की तरफ जाते हुए मन तथा इन्द्रियों को, विषयों में दोष-दर्शन रूपी वैराग्य दृष्टि द्वारा रोकना चाहिए । विषयरसिक मन का विषय–प्रेम, विषयों की असत्यता, असारता एवं अपकारकता का विचार करने से अटक जाता है । मन की सावधानी, दृढ़ता तथा धीरता द्वारा चपल इन्द्रियों को जीत सकते हैं ।

प्रशस्त विषय के ध्यान का अभ्यास बढ़ने से अंतःकरण की योग्यता बढ़ती है, ज्ञान एवं आनंद की वृद्धि का अनुभव होता है, इन्द्रियों तथा शरीर सात्त्विक बनते हैं तथा ध्यान के अभ्यास रूप पुण्य के प्रकर्ष से बाह्य व्यवहार भी अनुकूल बन जाते हैं ।

बिना थके नियमित अभ्यास करने से जिस प्रकार बड़े–बड़े ग्रंथों का अध्ययन किया जा सकता है, नित्य नियम पूर्वक ऊँचे चढ़ने से जिस प्रकार बड़े–बड़े पर्वत लाँघे जा सकते हैं, नित्य उत्साहपूर्वक चलने से जिस प्रकार समस्त पृथ्वी की प्रदक्षिणा पूरी की जा सकती है, वैसे ही उत्साहपूर्वक, उद्विग्न हुए बिना, नियमित अभ्यास चालू रखने से अनेक विषयाकार में परिणमित होने वाले मन के स्वभाव को पलटकर एक ही ध्येय के आकार में स्थित रखा जा सकता है ।

मन चिरकाल से अनेक विषयों के आकार में परिणत होने का आदि हो गया है । उसे एक ही ध्येयाकार में स्थिर करने का काम अति कठिन है, फिर भी जिस प्रकार दृढ़तायुक्त प्रयत्न से दूसरे बड़े काम सहज हो जाते हैं, वैसे ही यह कार्य भी सुकर बन जाता है । ध्यानाभ्यासी को लेशमात्र भी थके बिना नित्य नवीन उत्साहपूर्वक ध्यान के अभ्यास का कार्य प्रारंभ रखना चाहिए । ध्यानाभ्यासी को प्रयत्नपूर्वक अपने मन को शुद्ध ध्येय से जोड़ने हेतु प्रयत्न चालू रखना चाहिए, जिससे स्थूल एवं चंचल मन को ध्यान के बल से सूक्ष्म एवं एकाग्र करने में अवश्य सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

अशुद्ध मन को शुद्ध करने का एवं चंचल मन को स्थिर करने का कार्य अति दुष्कर है, तो भी पंच परमेष्ठी के ध्यान एवं भक्तिपूर्वक नमस्कार से वह सुलभ बनता है, क्योंकि पंच परमेष्ठी शुद्ध स्वरूपी, स्थिर एवं शाश्वत हैं ।

समुद्र से दूर रहे स्थान से मनुष्य ज्यों–ज्यों समुद्र के समीप आता जाता है, त्यों–त्यों समुद्र की ओर से आ रही पवन की शीतल लहरों द्वारा उसका ताप शांत होता जाता है एवं आनंद बढ़ता है, वैसे ही ध्यान द्वारा मनुष्य अपने बहिर्मुख मन को जैसे–जैसे परमात्म–तत्त्व के अभिमुख करता जाता है । वैसे–वैसे अन्तःकरण में शांति, समता, तृप्ति एवं निर्भयता का आनंद अनुभव किया जाता है ।

जिस प्रकार बड़े राजा के साथ अंतर संबन्ध से सामान्य मनुष्य की बाह्य–अंतरंग स्थिति में भी बड़ा अंतर पड़ जाता है, वैसे ही ज्ञानानन्दी स्वभाव वाले पंच परमेष्ठियों के साथ ध्यान द्वारा एकता का अनुभव करनेवाला मनुष्य भी अपनी अंतरंग एवं बाह्य स्थिति में भेद का अनुभव किए बिना नहीं रह सकता । जहाँ वह स्थिति बदलती हुई दिखाई नहीं दे, वहाँ समझना चाहिए कि उन परमेष्ठियों का ध्यान, योग्य प्रकार से नहीं हुआ है ।

धारणा–काल में ध्येय की प्रतीति न्यून होती है एवं अहंवृत्ति की प्रतीति विशेष होती है । ध्यान काल में ध्येय की प्रतीति प्रबल बनती है एवं अहंवृत्ति की प्रतीति घटती जाती है । चोरी आदि के भयस्थान में रहनेवाले धनिक, अपने धन को प्रयत्नपूर्वक सँभाल कर रखते हैं, वैसे ही ध्यानाभ्यासी को, ध्यान से उत्पन्न लोकोत्तर आनंद का अनुभव कराने वाली ध्यानानन्द की विलक्षण प्रतीतियों का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करना चाहिए ।

चित्त की निर्मलता रहित ध्यान, सच्चा ध्यान नहीं है । बगुले एवं बिल्ली का ध्यान, ध्यान होते हुए भी दुर्ध्यान गिना जाता है । अतः ध्यान करनेवाले ध्याता को प्रयत्नपूर्वक अपने चित्त को निर्मल करना चाहिए । कहा है **'जिसने अपने शरीर, इन्द्रियों एवं कषायों को जीता नहीं तथा रागद्वेष को दबाया नहीं, उसकी चेष्टा छिद्र–युक्त मशक में पानी भरने की तरह निष्फल होती है ।'**

पर्वत को समूल उखाड़ने, अग्नि का भक्षण करने, भूखे सिंह के समक्ष जाने, महासागर को भुजाओं द्वारा तैरने, पृथ्वी को भुजाओं में लेने, आकाश में निराधार उड़ने, तलवार की धार पर नंगे पाँव चलने एवं प्रबल वेग से बहते हुए वायु को रोकने की तरह मन को वश में करना अति दुष्कर है, वह कार्य भी परमात्म–स्वरूप को प्राप्त हुए परमेष्ठियों के सतत ध्यान से सिद्ध हो जाता है । मात्र उसमें सतत लीन रहना चाहिए । कहा भी है कि–

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात्, संतोषात् तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ।।1।।

अर्थात् छह प्रकार से सतत प्रयत्न करने से मन को वश करने रूप योग कार्य सिद्ध होता है । वे निम्नानुसार हैं–

1. उत्साहात्–वीर्योल्लास बढ़ाने से ।

2. निश्चयात्–यह मेरा परम कर्त्तव्य है ऐसा एकाग्र परिणाम रखने से ।

3. धैर्यात्–कष्ट के समय भी धीरतापूर्वक स्थिर रहने से ।

4. संतोषात्–आत्मरमणता धारण करने से ।

5. तत्त्वदर्शनात्–योग ही तत्त्व है, परमार्थ है, ऐसा विचार करने से ।

6. जनपदत्यागात्–गतानुगतिक लोक–व्यवहार का परित्याग करने से ।

उत्साहादि इन छह वस्तुओं द्वारा योग सिद्ध होता है । इस योग का अर्थ ध्यान अथवा एकाग्रता का परिणाम ।

आकाश में स्थिर तारे, पृथ्वी पर स्थिर बालू की कणिकाओं तथा बरसते मेघ की बूँदों की संख्या गिनना जितना दुष्कर है उससे भी अधिक दुष्कर कार्य चंचल मन को वश में करना है, तो भी उत्साहादि छह हेतुओं सहित प्रयत्न किया जाए, तो पंच परमेष्ठियों के ध्यान द्वारा मन वश में हो सकता है एवं ध्याता शांति, स्थिरता, निश्चलता, निर्भयता आदि गुणों का अनुभव करता है ।

22. शुभ-ध्यान के प्रकार एवं नमस्कार महामंत्र के ध्यान का क्रम

विशुद्ध लेश्यावाला ही ध्यान का अधिकारी है अथवा रागद्वेष पर विजय प्राप्त कर जिसने मन–शुद्धि की है, वही ध्यान का अधिकारी है। रागद्वेष पर विजय समताभाव से होती है, एवं समताभाव की सिद्धि ममता का नाश करनेवाली शुभ भावनाओं से होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ से पवित्र चित्तवाली शुभ भावनाओं से भावित आत्मा ध्यान में आगे बढ़ सकती है।

ध्यान का स्थान पर्वत की गुफा, जीर्ण उद्यान, शून्य गृह आदि है, जहाँ मनुष्यों का आवागमन नहीं हो, मन को विक्षिप्त करनेवाले निमित्तों का अभाव हो, जहाँ प्राणी का उपघात नहीं हो, ऐसे उचित शिलातल पर पर्यंक आदि किसी भी योग्य आसन पर बैठना चाहिए, जिससे अपने मन, वचन एवं काया के योगों का समाधान रहे एवं प्राणों का मंद–मंद संचार हो, इस रीति से बैठना चाहिए।

प्राणों का अति निरोध करने से चित्त व्याकुल हो जाता है। कहा है कि **'ऊसासं न निरुंभई'** अर्थात् श्वासोच्छ्वास को रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से एकाग्रता में स्खलना पहुँचती है। फिर चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख कर हृदय, ललाट या मस्तक किसी भी अधिक परिचित स्थान पर मनोवृत्ति को एकाग्र कर, पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ प्रसन्न वदन होकर शुभ ध्यान करना चाहिए।

वह ध्यान दो प्रकार का है–बाह्य एवं आंतर। बाह्य ध्यान सूत्रार्थ के परावर्तन रूप है अथवा दृढ़व्रतता, शीलानुराग तथा मन, वचन एवं काया के व्यापारों को दृढ़ता से रोकना आदि बाह्य ध्यान

है। जिसे दूसरा जान न सके, मात्र अनुमान कर सके, वह आंतर ध्यान है । स्व–संवेदनग्राह्य–ध्यान संक्षेप में चार प्रकार का है । अन्यत्र उसके दश प्रकार भी बताए हैं। आंतर ध्यान को अध्यात्म की परिभाषा में धर्मध्यान भी कहते हैं । परमेष्ठी के स्मरण में उन दशों प्रकार के ध्यान का किस प्रकार समावेश होता है उसका संक्षेप में विचार करते हैं ।

(1) अपाय विचय – अपाय के विषय में चित्त के चिंतन को अपाय कहते हैं। मन, वचन–काया के दुष्ट व्यापार आत्मा के लिए अपाय–कारक होते हैं । उन दुष्ट व्यापारों से आत्मा भवसागर में भटकती है। श्रेष्ठ राज्य–प्राप्ति के बाद जैसे मूढ़ आत्मा भिक्षा के लिए भटकती है, वैसे ही मन, वचन, काया के व्यापार वाला जीव मोक्ष स्वाधीन होते हुए भी दुष्ट व्यापारों के कारण भव–भ्रमण करता है । **'मेरे दुष्ट व्यापारों को मैं किस प्रकार रोकूँ'** इस प्रकार के संकल्पवाले जीव को अपाय विचय धर्म ध्यान होता है, क्योंकि उसमें दोषवर्जन की परिणति है । यह परिणति कुशलता की ओर प्रवृत्ति करानेवाली है। श्री नमस्कार मंत्र से मन, वचन और काया के योगों का काम क्रोधादिरूप अशुभ अभ्यास टलता है और ज्ञानादि शुभ अभ्यास की वृद्धि होती है अतः नमस्कार मंत्र का आराधन अपाय विचय धर्मध्यान का ही एक प्रकार है ।

(2) उपाय विचय – कुशल व्यापारों को स्वीकार करना ही उपाय–विचय है । **'मोह पिशाच'** से आत्मा की रक्षा कराने वाले कुशल व्यापारों से मैं किस प्रकार युक्त बनूँ ? इस प्रकार का संकल्प उपाय विचय है। श्री नमस्कार मंत्र की आराधना से वह सिद्ध होता है ।

(3) जीव विचय – अपनी आत्मा के विचार से उपयोग वाला ध्यान, जीव विचय है । जैसे **'मेरी आत्मा असंख्य प्रदेशवाली है, साकार, अनाकार उपयोग युक्त है, अनादि अनन्त है, कृतकर्म के**

फल को भोगनेवाली है, कर्म संबन्ध से भव–भ्रमणशील है एवं कर्मवियोग से मोक्ष प्राप्त करनेवाली है' इस प्रकार का विचार नमस्कार मंत्र में जुड़ा हुआ है अतः उसका आराधन जीव–विचय धर्मध्यान है ।

(4) अजीव विचय – धर्म, अधर्म , आकाश, काल, पुद्गल अथवा जो अनुक्रम से गति, स्थिति, अवगाह, वर्तनादि एवं ग्रहण गुणवाले हैं तथा अगुरुलघु आदि अनंत पर्यायवाले हैं । जिसमें अजीवों का विचार, स्थिर चित्त से हो वह अजीव–विचय धर्म ध्यान है । यह ध्यान देह एवं आत्मा के अभेदपने की भ्रांति का निवारण करनेवाला है, क्योंकि यह भ्रांति अनन्त शोक एवं आतंक आदि का कारण है । श्री नमस्कार मंत्र का ध्यान भी भेद–ज्ञान का साधक है अतः उसकी आराधना अजीव–विचय धर्म–ध्यान स्वरूप बनती है ।

(5) विपाक विचय –कर्म के विपाक का चिंतन विपाक विचय है । अरिहंत की पदवी से लेकर नारकीय जीवों की विपत्ति तक, जिसका एकछत्र साम्राज्य रहा हुआ है, उस शुभाशुभ कर्म के मधुर–कटुक फलों का विचार करना ही विपाक–विचय है । पुनः जो कर्म मूल–उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार का है, पुद्गलात्मक है, नीर–क्षीर न्याय से आत्मा के साथ अनादिकाल से संबन्धित है, लोहाग्नि–न्याय से आत्मा के लिए पीड़ाकारक है–ऐसा ध्यान विपाक विचय है । इस धर्म–ध्यान से कर्मजन्य सासांरिक फल की अभिलाषा से आत्मा निवृत्त होती है एवं यह ध्यान भव–वैराग्य का कारण बनता है । श्री नमस्कार मंत्र का ध्यान कर्मविपाक से छुड़ाने वाला है अतः यह ध्यान भी उसके अन्तर्गत स्थिर है ।

(6) विराग विचय – यह शरीर अशुचि से भरा हुआ है, शुक्र–व खून रूपी अशुचि से उत्पन्न हुआ है । मदिरा के घट की भाँति पावन नहीं हो सकता है, विनश्वर है, जिसमें प्रवेश करने मात्र से ही मिष्टान्न, विष्ठारूप एवं अमृत भी मूत्र रूप बन जाता है । यह अनित्य

है, अरक्षणीय है, मृत्यु के आक्रमण के समय पिता, माता, भ्राता, भगिनी, भार्या अथवा पुत्री किसी के द्वारा भी रक्षणीय नहीं है, जिसमें से निरंतर अशुचि बह रही है एवं नव छिद्रों से निरंतर अशुचि बाहर निकल रही है । अतः यह निश्चित होता है कि उसमें कुछ भी सुन्दर नहीं है । इस प्रकार से शरीर के स्वभाव का विचार, वैराग्य का हेतु होता है ।

विषय परिणाम से कटु हैं, किंपाक वृक्ष के फलों के उपभोग के समान हैं, स्वभाव से भंगुर हैं, पराधीन हैं, संतोष रूपी अमृत–रस के आस्वादन के शत्रु हैं एवं इनसे उत्पन्न होने वाला सुख, लारों के चाटने से उत्पन्न, बालक के दूध के स्वाद के सुख की तरह अपारमार्थिक है । उसमें आस्था रखना अविवेकपूर्ण है, उसमें विराम पाना ही श्रेयस्कर है, विरति ही कल्याणकारिणी है ।

पुनः यह गृहवास भी सुलगती हुई अग्नि की ज्वालाओं के समान है, जिनमें विषयों से स्निग्ध, इन्द्रिय रूपी ईंधन जल रहा है । उसमें से धूम की घटा के समान अज्ञान की परम्परा फैल रही है । इस ज्वालामाला को प्रशांत करने का सामर्थ्य मात्र एक धर्म रूपी मेघ में ही है । अतः उसमें ही प्रवृत्ति रखना उचित है । ऐसा धर्म–ध्यान राग के कारणों का निरोध करनेवाला होने से तथा परमानन्द के आस्वाद तुल्य आनन्द को साक्षात् प्रदान करनेवाला होने से अवश्यमेव करणीय है । नमस्कार मंत्र की आराधना में विराग–विचय धर्म–ध्यान भरा हुआ है ।

(7) भव विचय – अपने किए कर्म के फल का उपभोग करने के लिए जीव को फिर जन्म लेना पड़ता है । अरघट्ट घटीयंत्र के न्याय की तरह मूत्र, विष्ठा एवं आँतों से युक्त दुर्गंधित पेट के खोले में आत्मा को बारबार रहना पड़ता है । वहाँ बसने वाले जन्तु का कोई सहायक नहीं होता, इत्यादि भवपरिवर्तन का विचार सत्प्रवृत्ति में हेतुभूत भवनिर्वेद का कारण बनता है । श्री नमस्कार मंत्र के ध्यान से

यह भवनिर्वेद पुष्ट होता है, अतः यह भव–विचय धर्म–ध्यान का ही एक प्रकार है ।

(8) संस्थान विचय – नीचे कुर्सी की तरह, मध्य में झल्लरी की तरह, ऊपर डमरू की तरह यह चौदह राजलोक प्रमाण विश्व है । यह चिंतन बारबार करने से चित्त का अन्य विषयों की तरफ होने वाला संचार रुक जाता है एवं एकाग्रता प्राप्त होती है । श्री नमस्कार मंत्र के ध्यान में श्री चौदह राजलोक का विचार आ जाता है अतः वह भी संस्थान विचय ध्यान का ही एक प्रकार है ।

(9) आज्ञा विचय – परलोक, बंध, मोक्ष, धर्म, अधर्मादि अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्म भावों के विषय में आप्त वचन को प्रमाण मानने से सकल संशय दूर हो जाते हैं एवं सकल प्रवृत्ति को जीवंत रखने में प्राण तुल्य श्रद्धा उत्पन्न होती है । अतः अत्यंत दुर्ज्ञेय एवं हेतु–उदाहरणादि से अगम्य, सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय पदार्थ असत् नहीं हैं, किंतु जिनवचनप्रमाण से सत्य हैं, ऐसी प्रतीति करना, आज्ञाविचय धर्म ध्यान है । श्री नमस्कार मंत्र जिनाज्ञा के अनुसरण स्वरूप है अतः उसका चिंतन आज्ञाविचय धर्म ध्यान का ही एक प्रकार है ।

(10) हेतु विचय – आगम विषयक वाद–विवाद द्वारा जिसकी बुद्धि स्थिर न हो, वैसे तर्कानुसारी बुद्धि वाले पुरुष की आगमविषयक परीक्षा हेतुविचय धर्म–ध्यान है । स्याद्वाद प्ररूपक आगम, कष, छेद एवं ताप परीक्षा से शुद्ध है अतः अवश्य आश्रयणीय है । इस प्रकार की विशिष्ट श्रद्धा की अभिवृद्धि करनेवाला होने से हेतुविचय धर्म ध्यान कर्त्तव्य है । श्री नमस्कार मंत्र भी कष, छेद, एवं ताप की परीक्षा से शुद्ध सिद्ध होने से उसका ध्यान हेतुविचय धर्मध्यान का एक प्रकार बनता है ।

23. भाव मंगल श्री नवकार

'मंग्यते–साध्यते हितमनेनेति मंगलम्' अर्थात् जिससे हित साधा जाता है, वह मंगल है । अथवा हित, धर्म से ही साधा जाता है अतः हित साधक धर्म को लानेवाला मंगल है । कहा है कि **'मंगलम्–धर्मं लातीति मंगलम्'** यहां मंग का अर्थ है धर्म, उसे लानेवाला मंगल होता है यह भी मंगल का दूसरा अर्थ है । अथवा धर्म की प्राप्ति अधर्म के नाश से होती है । सर्व अधर्मों का मूल कारण विषय, कषाय एवं उसके फलस्वरूप चारों गतियों में परिभ्रमण स्वरूप संसार है अतः **'संसार परिभ्रमण का क्षय करनेवाला मंगल होता है'** ऐसा तीसरा अर्थ भी मंगल का होता है ।

कहा है कि– **'मां भवात्–संसारात् गालयति–उपनयतीति मंगलम्'** अर्थात्–मुझे संसार से, **गालयति**–पार उतारे, मेरे संसार को दूर करे वह मंगल है ।

इस प्रकार मंगल का अर्थ है हित का साधन, धर्म का उपादान एवं अधर्म के मूलभूत संसार के परिभ्रमण का ही मूल से नाश । सुखसाधक एवं दुःखनाशक पदार्थ को मंगलकर मानने की रूढ़ि संसार में प्रसिद्ध है । परम्परा से भी दुःखोच्छेदक एवं सुख प्राप्त करानेवाले पदार्थ मंगल रूप माने जाते हैं तथा जिस प्रकार कष्टनिवारण अथवा सुख (निश्चित नहीं पर संदिग्ध) प्रदान करने में समर्थ पदार्थ भी मंगल रूप माने जाते है । जैसे दही, दूब, अक्षत, श्रीफल, पूर्णकलश एवं स्वस्तिकादि पदार्थ । इस प्रकार सुख के निश्चित अथवा संदिग्ध साधनभूत सभी वस्तुएँ जगत् में मंगल रूप गिनी जाती हैं ।

अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म तथा स्वाध्याय, ध्यान एवं ज्ञानदि गुण, दुःखध्वंस एवं सुखसिद्धि के निश्चित साधन हैं, अतः वे भाव–मंगल गिने जाते हैं । दही, दूब, अक्षत, श्रीफल, पूर्णकलश

एवं स्वस्तिक आदि संदिग्ध साधन हैं अतः वे सब द्रव्य–मंगल गिने जाते हैं। द्रव्य–मंगल सुख के संदिग्ध साधन हैं, परन्तु संपूर्ण सुख को प्रदान करनेवाले भाव मंगल ही सुख के निश्चित साधन हैं एवं उनका सेवन करनेवाले को वे संपूर्ण मंगल एवं अविनाशी सुख प्रदान करते हैं अतः द्रव्य मंगल से भाव मंगल का मूल्य बहुत अधिक है।

जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार के भाव मंगल बतलाए हैं, उन सब में श्री पंच परमेष्ठी–नमस्कार को प्रधान मंगल कहा गया है। उसके मुख्य दो कारण हैं–(1) श्री पंचपरमेष्ठि–नमस्कार स्वयं गुण स्वरूप है एवं (2) गुणों के बहुमान स्वरूप है। अहिंसा, संयम एवं तप तथा स्वाध्याय, ध्यान एवं ज्ञान आदि स्वयं गुण स्वरूप हैं , परंतु गुणों के बहुमान स्वरूप नहीं।

श्री पंच–परमेष्ठि–नमस्कार सभी सद्गुणों में शिरोमणिभूत विनय गुण के पालन स्वरूप है। विनय मोक्ष का मूल है, विनय के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना दर्शन नहीं, दर्शन के बिना चारित्र नहीं एवं चारित्र के बिना मोक्ष नहीं। मोक्ष के लिए चारित्र की अवश्यकता है एवं चारित्र के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा के लिए ज्ञान की एवं ज्ञान के लिए विनय की आवश्यकता है और यह नमस्कार विनय स्वरूप है।

योग्य के प्रति विनय सद्विनय है। श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार में तात्त्विक गुणों को धारण करनेवाले (विनय योग्य त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती) सभी व्यक्तियों को नमस्कार किया जाता है।

पंच परमेष्ठि–नमस्कार करने योग्य व्यक्तियों की सर्वोत्कृष्टता होने के कारण उन्हें किया गया नमस्कार सभी विनयों में प्रधान विनय स्वरूप बन जाता है। प्रधान विनय गुण के पालन से प्रधान (यथार्थ) ज्ञान, प्रधान (तात्त्विक) दर्शन (श्रद्धा), प्रधान (श्रेष्ठ) चारित्र एवं प्रधान (अव्याबाध) सुख की प्राप्ति होती है। परमेष्ठियों को नमस्कार

स्वरूप प्रधान विनय गुण के पालन किए बिना ज्ञान, ध्यान अथवा संयम सर्व–प्रधान मोक्षसुख को प्रदान करने में सफल नहीं हो सकता ।

श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार जिस प्रकार मुख्य तथा विनय गुण के पालन स्वरूप है, वैसा ही गुणों के बहुमान स्वरूप भी है । गुण-बहुमान चित्त की अचिन्त्य–शक्तियुक्त धर्म है । गुण-बहुमान के आशय से युक्त चित्त थोड़े ही समय में सभी प्रकार की अशुद्धियों एवं अहंकारादि दोषों से रहित बन जाता है ।

कच्ची मिट्टी के घड़े में रखा हुआ पानी जिस प्रकार प्रतिक्षण घड़े का नाश करने वाला होता है, वैसे ही चित्त रूपी घड़े में भरा हुआ गुण बहुमान रूपी जल चित्त के दोष एवं मलिनता को प्रतिक्षण नष्ट करता है । गुण बहुमान को धारण करनेवाला मानसिक–भाव जिस प्रकार अचिंत्य प्रभाव-संपन्न होता है, वैसे ही गुण-बहुमान को व्यक्त करनेवाली वाचिक एवं कायिक चेष्टाएँ भी प्रभाव-सम्पन्न बन जाती हैं । श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार में ये तीनों वस्तुएँ रही हैं । मन से नमस्कार का भाव, वचन से नमने का शब्द एवं काया से नमने की क्रिया होनी चाहिए । इस प्रकार ज्ञान, शब्द एवं क्रिया रूप विविध क्रिया युक्त श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार पाप–ध्वंस एवं कर्मक्षय का अनन्य कारण बन जाता है । अतः वह सर्वोत्कृष्ट भावमंगल स्वरूप है एवं उसी के कारण श्री पंचपरपेष्ठि–नमस्कार मंत्र की चूलिका में कहा गया है कि–

एष पंच नमस्कारः सर्वपाप–प्रणाशनः ।
मंगलानां च सर्वेषाम्, मुख्यं भवति मंगलम् ।।

अर्थ :– पाँचों परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सभी पापों को मूल से नाश करनेवाला है तथा सर्वमंगलों में प्रथम–प्रधान–सर्वोत्कृष्ट मंगल स्वरूप है ।

24. नमस्कार मंत्र का आह्वान

``ताव न जायइ चित्तेण, चिंतियं पत्थियं च वायाए ।
काएण समाढत्तं, जाव न सरियो नमुक्कारो ।।१।। ''

अर्थात् जब तक श्री पंच परमेष्ठि–नमस्कार महामंत्र का स्मरण नहीं करें, तब तक ही चित्त से चिंतित, वचन से इच्छित एवं काया से प्रारंभ किया हुआ कार्य सम्भव नहीं होता ।

धर्मास्तिकायादि द्रव्यों की भाँति नमस्कार मंत्र शाश्वत है, श्री तीर्थंकरों के धर्मोपदेश की तरह इसके उपकार अनंत हैं । इस संसार में कोई भी ऐसा पाप नहीं है कि जिसका प्रतिकार नमस्कार महामंत्र के आश्रय से सम्भव न हो । इस मंत्र के अक्षर, केवल अक्षर ही नहीं हैं, किन्तु साक्षात् ज्योतिपुंज अक्षरमय देवता हैं । इसकी शरण स्वीकार करनेवाला, विधिपूर्वक श्रवण अथवा स्मरण करनेवाला निर्भय बनता है ।

नमस्कार मंत्र की यह प्रतिज्ञा है कि मेरा आश्रय लेनेवाले के पापों का समूल नाश करूँ । इस प्रतिज्ञा को गलत सिद्ध करनेवाला आज तक कोई मिला ही नहीं । इसे गलत साबित करनेवाला स्वयं ही झूठा पड़ता है ।

नमस्कार मंत्र की दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि मेरे शरणागत की सबको शरण लेनी पड़ती है । संसार में जितने शुभ एवं श्रेष्ठ सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ हैं ,वे सभी नमस्कार के दास हैं । नमस्कार मंत्र की यह दूसरी प्रतिज्ञा टंकशाली है । उसकी सत्यता की कसौटी करने हेतु नमस्कार मंत्र का सारे विश्व को आमंत्रण है । विश्व के समक्ष नमस्कार मंत्र का यह आह्वान है, खुले आम घोषणा है कि उठो ! जागो एवं श्री नमस्कार मंत्र के इस आह्वान को हर्षपूर्वक स्वीकार करो । उसकी स्वीकृति के लिए श्री नमस्कार मंत्र का सभी को प्रेम भरा आमंत्रण है ।

25. साधना का स्वरुप-दर्शन

साधना, सेवा अथवा उपासना ये तीनों एक ही अर्थ को बतलाने वाले शब्द हैं । जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार के साध्यों की सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं की साधना, सेवा और उपासना की जाती है ।

जैन दर्शन कौनसी वस्तु की साधना को कर्त्तव्य रूप गिनता है और उसे सिद्ध करने के लिए उसने किस मार्ग का उपदेश दिया है- उसी के संदर्भ में कुछ विचार करेंगे ।

हेय पुरुषार्थः अर्थ और काम

इस विश्व में चार पुरुषार्थ ◆प्रसिद्ध हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । अर्थ और काम पुरुषार्थ पुरुष-प्रयत्न से साध्य होने पर भी उनके लिए किया गया प्रयत्न आत्मा के लिए हानिकर होने के कारण जैनशासन में उन्हें स्थान नहीं दिया गया है ।

अर्थ और काम पुरुषार्थ को मनुष्य-जीवन में आदर अथवा उत्तेजन नहीं दिलाने का दूसरा कारण यह भी है कि इन पुरुषार्थों के प्रति जीवात्मा को अनादिकाल से प्रेम लगा हुआ है और उन दो असत् वस्तुओं के नैसर्गिक अनुराग से जीवात्मा को अनेक प्रकार की निरर्थक तकलीफें भुगतनी पड़ रही हैं । उन कष्टों में से और उन अयोग्य वस्तुओं के राग में से बचने का अवसर, युक्त-अयुक्त और कार्य-

◆ पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष की इच्छा और प्रयत्न का विषय । जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य इच्छा और प्रयत्न करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं । वे चार प्रकार के हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । सर्व प्रयत्नों से साध्य केवल सुख ही है । अतः सुख की कल्पना भी जीवों की दो प्रकार की है-एक बाह्य और दूसरी अभ्यन्तर । बाह्य सुख और उसको साधने के लिए जो प्रयत्न है उसे अनुक्रम से काम और अर्थ पुरुषार्थ कहते हैं । अभ्यन्तर सुख और उसको साधने के लिए जो प्रयत्न है उसे अनुक्रम से मोक्ष और धर्म पुरुषार्थ कहते हैं ।

अकार्य का विवेक करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती है । एक मात्र मनुष्य-भव में ही विवेक-शक्ति का सम्पूर्ण आचरण सम्भव है, अतः ऐसे उत्तम भव/मनुष्य-भव को प्राप्त कर भी यदि आत्मा, अर्थ-काम के अनुराग में से मुक्त न हो और उसी में आसक्त बनकर अनेक प्रकार के पापों का आचरण करता रहे तो इससे बढ़ कर दूसरा आश्चर्य और क्या हो सकता है !

स्थूल दृष्टि से काम पुरुषार्थ जीव को सुख देने वाला दिखाई देता है । अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ का साधन होने से जीवात्मा को परम्परा से सुख देने वाला कहलाता है । फिर भी कामपुरुषार्थ-जन्य सुख के वास्तविक स्वरूप का विचार किया जाये तो पता लगेगा कि वह सुख नहीं किन्तु सुख के आभास में छिपा हुआ भयंकर कोटि का दुःख ही है । खुजली का रोगी खाज खुजला कर जो सुख, जितने समय के लिए प्राप्त करता है और उसका जो परिणाम होता है, वही स्थिति कामजन्य सुख की है ।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से जन्य सुख, क्षणस्थायी है और दीर्घकाल के दुःख को लाने वाला है, इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है । ऐसे क्षणिक सुख के उपभोग के लिए ही अर्थोपार्जन का दुःख सहन करना, यह अपने हाथों से दुःख का गर्त खोदने तुल्य ही है ।

भयंकर कष्टदायी, फिर भी अनादिकाल से प्रिय ऐसे अर्थ और काम पुरुषार्थ के लिए जीवात्मा को उपदेश देना यह तो सुलगती हुई आग में घी डालने के समान ही है । अर्थ, काम और उसके साधनों के प्रति जीवात्मा में स्वाभाविक अनुराग रहा हुआ है, उस अनुराग रूपी आग में, उसी के लिए उपदेश रूपी घी की जो आहुति करता है, वह आत्मा हितोपदेशक नहीं किन्तु दुश्मन ही है ।

आग से जले हुए को और जलाना अथवा गिरते हुए को धक्का देने की तरह ही वह उपदेश है, जिसमें अर्थ और काम की पुष्टि की जाती है ।

प्रश्न : क्या अर्थ और काम का मनुष्य-जीवन पर कुछ भी उपकार नहीं है ?

उत्तर : अर्थ और काम पुरुषार्थ का मनुष्य के जीवन पर जहाँ कहीं भी उपकार दिखाई देता है, वह उपकार अर्थ-काम को अपकारी के रूप में स्वीकार करने के बाद ही है । कोई व्यक्ति अपनी बुद्धिमत्ता और सावधानी से विष, शस्त्र और अग्नि जैसी घातक वस्तुओं को भी अपने जीवन का साधन बना सकता है, फिर भी वह व्यक्ति विष आदि के अपकार का पूरा-पूरा ख्याल रखता है । यदि वह उन वस्तुओं की अपकार वृत्ति को एकदम भूल जाये तो वह अपने प्राणों को ही संकट में डाल देता है ।

प्राणनाशक विष का भी यदि औषध बनाकर उपयोग किया जाय तो वह विष भी प्राण बचा सकता है । इसी प्रकार शस्त्र और अग्नि प्राणघातक होने पर भी यदि उनका सावधानी से उपयोग किया जाय तो वे भी रक्षक बन सकते हैं । दुनिया में ऐसी कोई विनाशकारी वस्तु नहीं है, जिसका योग्य रीति से योग्य समय पर उपयोग किया जाय तो फायदा न हो । परन्तु उन विनाशक वस्तुओं को लाभकारक स्थिति में लाने के बाद ही जैसे उपयोग किया जाता है और नुकसानकारक स्थिति में तो उनका स्पर्श भी अयोग्य माना जाता है, ठीक उसी प्रकार अर्थ और काम के विषय में निस्सन्देह समझ लेना चाहिए ।

उपादेय पुरुषार्थः धर्म

योग्य आत्माएँ अनर्थकर अर्थ और काम को भी अपनी योग्यता के बल से अर्थकर बना देती हैं । वह योग्यता है अर्थ-काम की अनर्थता का पूरा-पूरा परिचय और वे अनर्थकर न बनें, उतनी सावधानीपूर्वक उनका उपयोग करने की कला ।

जिस प्रकार अग्नि सावधानीपूर्वक किसी साधन से पकड़ कर चूल्हे में रखी जाय तो वह रसोई पका सकती है, परन्तु उसी अग्नि

को हाथ से पकड़ा जाय तो वही अग्नि हाथ को जला देती है । उसी प्रकार योग्य आत्मा प्राप्त हुए अर्थ व काम को भी आत्महित में जोड़ कर अपना हित अवश्य कर सकती है ।

जिस प्रकार रसोई तैयार करने के लिए अप्राप्त अग्नि को प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अमुक प्रसंगों में अप्राप्त अर्थ-काम को प्राप्त करने की आवश्यकता को भी स्वीकार करना पड़ता है । परन्तु अग्नि की तरह ही उसका उपयोग सावधानी से किया जाय, तभी वे हितकारक बन सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

प्राप्त अर्थ-काम का कैसे उपयोग करना ? किस अवस्था में अप्राप्त अर्थ-काम को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना ? किस अवस्था में प्राप्त अर्थ-काम को दूर करने का प्रयास करना ? इत्यादि समझाना और उसका उचित आचरण कराना, यही धर्मशास्त्रकारों का कार्य है । अर्थ-काम की वास्तविक अनर्थकरता को समझने के बाद ही धर्म की अर्थकरता का वास्तविक लक्ष्य बनता है ।

ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि अर्थ-काम के अनर्थों से जगत् को बचाना, यही धर्म का प्रथम कार्य है और आत्मा को मोक्ष प्राप्त करना, यह धर्म का दूसरा कार्य है ।

अर्थ और काम के अनर्थों से बचाने की ताकत जिस धर्म में नहीं है, वह धर्म आत्मा को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकता ।

मोक्ष की प्राप्ति धर्म द्वारा ही होती है । जो धर्म, अर्थ-काम के प्रति उन्मुख रहे, जीवात्मा के असद् अनुराग को न हटाये, किन्तु उसे पुष्ट करे तो उस धर्म से मोक्ष की प्राप्ति तो दूर रही, संसार की आपत्तियों को भी टालने में वह धर्म समर्थ नहीं बन सकता, बल्कि वह आपत्तियों को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है । इसी कारण जैनशासन अर्थ-काम की अयोग्य वासना से बचाने वाले और मोक्ष को दिलाने वाले धर्म पुरुषार्थ को ही उपादेय स्वीकार करता है ।

26. अर्थ पुरुषार्थ अनर्थकारी

किसी भी वस्तु की सारभूतता तथा असारभूतता का विचार करने के लिए उसके कारण, स्वरूप, विषय और फल आदि समस्त दृष्टियों का विचार करना चाहिए । वस्तु मात्र की अनन्त अवस्थाएँ होती हैं, जिनमें से कुछ मुख्य अवस्थाओं का विचार करने से वस्तु के मूल स्वरूप का भान होता है । उन अवस्थाओं की प्रति-अवस्थाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, उन सबका विचार न भी हो फिर भी उनकी मुख्य अवस्थाओं का विचार किया जाय तो भी वस्तु के स्वरूप का बोध हो सकता है ।

'अर्थ' की मुख्य अवस्थाओं का विचार करने पर उसकी एक भी अवस्था स्व-पर-उपकारक सिद्ध नहीं होती है, किन्तु स्व-पर-हितनाशक ही सिद्ध होती है ।

अर्थ के कारण रूप में सामान्यतः ◆ असि, मसि, कृषि के व्यापार, विविध-वाणिज्य तथा शिल्प, विचित्र प्रकार के धातुवाद, रसायन तथा साम, दाम, दण्ड और भेदादि नीतियों ❑ को गिन सकते हैं । उनमें से एक भी प्रकार ऐसा नहीं है, जिसमें हिंसादि पापों का सेवन नहीं होता है । किसी-न-किसी प्रकार के पापसेवन बिना लक्ष्मी का उपार्जन शक्य नहीं है । हिंसादि पापों का आसेवन, आत्मा की दुर्गति का ही निमित्त है ।

◆ Arts of fighting, waiting and farming, commerce and mechanics, minerals and chemicals, engineering and politics.

❑ कहां भी है– **उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् ।**
नीचमूल्यप्रदानेन, सदृशं च पराक्रमैः ।।

उत्तम को प्रणिपात अर्थात् सामनीति द्वारा, शूर को, भेद-नीति द्वारा, नीच को थोड़ा देकर और सदृश अर्थात् समान को पराक्रम अर्थात् दण्डनीति द्वारा जोड़ सकते हैं ।

साम-दाम-दण्ड और भेद नीति को समझाने के लिए सियार का दृष्टान्त प्रस्तुत है–

किसी जंगल में एक सियार था । एक बार भूख के कारण, खुराक की शोध में वह जहाँ-तहाँ भटकने लगा । किसी स्थान पर उसने मृत हाथी का कलेवर देखा । बहुत दिनों का भोजन मिल जाने से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ । उसी समय एक सिंह सामने से आता दिखाई दिया । बुद्धिमान सियार नमस्कार करके उस सिंह के सामने खड़ा रहा और बोला, ``यह तो मरा हुआ हाथी है, आप जैसों के लिए उसका स्पर्श करना भी योग्य नहीं है, आप तो जीवित हाथी के गंडस्थल को भेदकर तृप्ति पाने वाले हो ।'' अपनी प्रशंसा सुनकर वह सिंह वहाँ से तुरन्त चला गया ।

कुछ समय बाद एक व्याघ्र वहाँ आया । सियार ने उसे कहा- ``आपका दुश्मन व्याघ्र अभी इस हाथी को मारकर, आपके भय से कुए में छिप गया है । काफी समय बाद आपको यह अवसर हाथ लगा है, अतः आप इस बार उसे खत्म ही कर डालो ।'' सियार की यह बात सुनकर वह व्याघ्र कुए की दीवार पर चढ़ा और कुए में झाँकने लगा । अज्ञानता के कारण अपने ही प्रतिबिम्ब को अपना दुश्मन समझकर, उसे खत्म करने के लिए वह कुए में कूद पड़ा । उसी समय उसके प्राण-पखेरु उड़ गये ।

कुछ समय बाद कौओं का एक टोला वहाँ आ गया और उस मृत हाथी के कलेवर को खाने के लिए तैयार हो गया । उस टोले को देखकर उस बुद्धिमान सियार ने हाथी के कलेवर में से मांस के कुछ टुकड़े लेकर इधर-उधर फेंक दिये । उन टुकड़ों से सन्तुष्ट बने कौए उन टुकड़ों को लेकर वहाँ से उड़ गये ।

कुछ समय बाद एक सियार वहाँ आया । उसने उस सियार से युद्ध किया और उसे मार भगाया ।

इस प्रकार अपनी बुद्धि के द्वारा उस जंगल के सियार ने हाथी के उस मृत कलेवर का रक्षण किया और कई दिनों तक दावत उड़ाई ।

बस ! इसी प्रकार धन आदि में लुब्ध व्यक्ति को भी इन चारों प्रकार की नीतियों का आश्रय लेना पड़ता है, तभी वह अपने धन का संरक्षण कर सकता है ।

अर्थ के स्वरूप का विचार किया जाय तो पता लगता है कि वह क्षणभंगुर है, सदा अस्थिर और चंचल है । उसकी प्राप्ति के लिए चाहे जितना प्रयत्न किया जाय फिर भी भाग्य के अनुसार ही वह प्राप्त होता है । उसकी प्राप्ति के बाद उसके संरक्षण आदि की चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं । संरक्षण के बाद भी उसके चले जाने पर वह चित्त को और अधिक संताप देता है । अप्राप्त अवस्था में वह आर्तध्यान और प्राप्त काल में वह रौद्र ध्यान कराता है । वियोगकाल में आर्त व रौद्र उभय ध्यान द्वारा असमाधि को ही बढ़ाता है ।

अर्थ पुरुषार्थ का विषय स्वर्ण आदि वस्तुएँ हैं, जो पुद्गलमय हैं । पुद्गल की स्थिति सदा समान नहीं रहती है, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं । उसका मूल्य भी मांग के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है । कोई भी पुद्गल स्वयं दुःखरूप या सुखरूप नहीं है । शुभ पुद्गल भी परिणामवश अशुभ बन जाता है । प्रयोजनवश एक ही पुद्गल एक समय शुभ लगता है और प्रयोजन मिटने पर वही पुद्गल अशुभ हो जाता है । एक ही समय में एक पुद्गल एक को आनन्द देने वाला बनता है और उसी समय वही पुद्गल दूसरे को दुखदायी सिद्ध होता है ।

एक ही पुद्गल के प्रति काल आदि सामग्री के अनुसार रुचि और अरुचि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । इस कारण कोई भी पुद्गल निश्चय दृष्टि से जीवात्मा को इष्ट ही है अथवा अनिष्ट ही है, ऐसा कोई नियम नहीं बाँध सकते हैं । ◆

सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, मोती, माणक, धन-धान्य, जमीन,

◆ Nothing is good or bad, but thinking makes it so. –Shakespeare

द्विपद, चतुष्पद, सैन्य, ग्राम आदि अभी अर्थ-सम्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गलमय हैं। वे सम्पत्तियाँ जीवात्मा के लिए एक समान उपकारक या सुखकारक नहीं बन सकतीं। भिन्न-भिन्न कारणों से वे ही सामग्रियाँ शुभ-अशुभ रूप में बदलती रहती हैं और उस शुभाशुभ भाव से रागी-द्वेषी बनी आत्मा कर्मबन्धन करती रहती है। कर्मबन्धन से संसार अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है और यह जन्म-मरण की परम्परा ही सर्व दुःखों का मूल है।

अर्थ का कारण, स्वरूप व विषय-ये तीनों इस प्रकार दुःखजनक हैं तो फिर इनका फल भी दुःखदायी हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। फिर भी अर्थ से ही कामसामग्री प्राप्त होती है। इस कारण कामोपभोग की अर्थी आत्माएँ, आगे-पीछे के समस्त कष्टों की अवगणना कर अर्थप्राप्ति के पीछे ही पागल बनी होती हैं और पाप करने में भी पीछे नहीं देखती हैं। फिर भी अर्थ से प्राप्त कामभोग के साधन और उन साधनों से प्राप्त सुख का विचार किया जाय तो उस सुख के लेश की प्राप्ति के लिए कोई भी बुद्धिमान भूत और भावी के उन भयंकर कष्टों को सहन करने के लिए कदापि तैयार नहीं होगा।

अर्थ पुरुषार्थ की साधक आत्मा जितना धन इकट्ठा करती है, वह सब आरम्भ आदि पाप का अधिकरण बनता है। पाप के अधिकरण पर ममत्व भाव धारण करने से आत्मा का संसार में पतन होता है। पाप के अधिकरण रूप वह लक्ष्मी कभी दुश्मनों के लिए भी उपकारक बनती है। उस धन के ममत्व के कारण परभव में सर्प-चूहे आदि के भवों की प्राप्ति होती है।

धन के ममत्व और भोग से अल्पकालीन सुख मिलता है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा को दीर्घ काल तक दुर्गति के भयंकर दुःख सहन करने पड़ते हैं, जिनका विचार भी देह में कम्पन पैदा कर देता है। धन के लिए आरम्भ आदि पापों में लुब्ध बनी आत्मा संसार-

सागर में डूब जाती है । यह तो पारलौकिक कष्टों की बात हुई । अरे ! इस जन्म में भी धन के अर्थी को कोई कम कष्ट नहीं है । धन के मालिक को चोर, राजा, दुष्टजन तथा स्वजन आदि का भय सताता रहता है ।

धन का मालिक भी अपने धन का आंशिक भाग ही भोग पाता है, उसका अधिकांश भाग दूसरों के हाथों में ही जाता है । चिन्ता और व्याकुलता तो धन के साथ ही जुड़ी हुई है । व्याकुलता सुख का अनुभव नहीं कर पाती है । धन के गाढ़ ममत्व के कारण व्यक्ति धर्म-कर्म को भी भूल जाता है । इतना होने पर भी वह धन रोग, जरा और मृत्यु के समय रक्षण करने में समर्थ नहीं बन पाता है ।

धन से धर्म भी अल्प प्रमाण में ही हो सकता है । निरारम्भ और निःसंग-जन्य धर्म की तुलना में धन से जन्य धर्म का प्रमाण अल्प ही होता है । द्रव्यस्तव का अधिकतम फल बारहवाँ देवलोक ही है, जबकि धन के संग के सर्वथा त्याग के बाद निरारम्भ और निस्संगता पूर्वक जो धर्म होता है, वह धर्म यावत् मोक्षफल प्रदान करने में समर्थ होता है ।

धन परभव में साथ नहीं जाता है । उसकी उत्पत्ति के पीछे हिंसा रही हुई है । उसके रक्षण और संग्रह के पीछे भी भयंकर हिंसा रही हुई है । ऐसे धन की प्राप्ति होने पर भी जिसे सत्क्षेत्र में वपन करने की इच्छा नहीं होती है, वास्तव में उसका जीवन दया का पात्र ही है । उनका मनुष्य जन्म, नरकादि-दुर्गति को दिलाने वाला ही है । ज्ञानी पुरुषों का यह कथन एकदम सत्य है और इसी कारण उन्होंने धन के परित्याग में ही आत्मा का श्रेय माना है और उसी के त्याग का उपदेश दिया है ।

27. काम पुरुषार्थ की कटुता

अर्थ दुर्गतिदायक होने पर भी उससे प्राप्त होने वाले कामसुखों की अभिलाषा वाली आत्माओं का मोह दूर नहीं होता है । कई आत्माएँ काम के लिए नहीं, किन्तु अर्थ के लिए ही अर्थोपार्जन में रसवाली होती हैं । उनके अध्यवसाय अत्यन्त संक्लिष्ट होते हैं । शास्त्र में उन्हें नराधम कहा है क्योंकि उनका चित्त माया, शोक, भय, क्रोध, मोह और मद से सदा घिरा हुआ होता है । इनमें से एक भी दोष दुर्गतिदायक है तो फिर जहाँ समस्त दोषों का संगम होता हो, उस चित्त की संक्लिष्टता का तो वर्णन ही अशक्य है । इसी कारण अन्य दर्शनकारों ने उन आत्माओं का समावेश तामसी प्रकृति वालों में किया है । जैन शास्त्रों में भी उन्हें अधम लेश्यावाला कहा है ।

'काम' के लिए अर्थोपार्जन करने वाली आत्माओं के परिणाम इतने संक्लिष्ट नहीं होते फिर भी उनका चित्त हमेशा रागग्रस्त और विवेक-विकल ही होता है । वे भी दुर्गति के ही अधिकारी होते हैं ।

अर्थ पुरुषार्थ की तरह काम पुरुषार्थ के कारण, स्वरूप, विषय और फल भी निन्दनीय ही हैं । काम का कारण जो अर्थ है, वह तो स्वभाव से ही असुन्दर है । काम का स्वरूप तीव्र अभिष्वंग (राग) है । वह भी संताप पैदा करता है । काम का विषय स्त्रीशरीर है, वह भी अत्यन्त अशुचिमय है और काम का फल अत्यन्त कटु और विरस है, अतः वह भी जीव के लिए अनिष्टकर ही है ।

जिस प्रकार काम की साधन-सामग्री लक्ष्मी है, उसी प्रकार शरीर, वय, कला, दाक्षिण्य, अनुराग आदि के व्यापार व रतिक्रीड़ा भी हैं । ये समस्त वस्तुएँ स्वयं अशुभ हैं । क्षण मात्र में विपर्यास को पाने वाली हैं और अत्यल्प/कल्पित सुख को देने वाली हैं । उनसे सरसों जितने सुख की प्राप्ति होती है, जो मेरु जितने दुःख के भार को उत्पन्न करता है । कामसुख की तृष्णा से ही आत्मा मोक्ष के अनन्त सुखों को हार जाती है और उसे नरक-तिर्यञ्च के भयंकर कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।

28. धर्म-पुरुषार्थ की प्रधानता

कामजन्य सुख अल्पकालीन, कल्पित और आरोपित है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए जो परिश्रम उठाया जाता है, वह किसी विशिष्ट फल को देने वाला नहीं बनता है ।

कामजन्य सुख आरोपित है, क्योंकि वह पराधीन है । अनारोपित और वास्तविक सुख उसी को कहते हैं जो पर के अधीन नहीं है । कामजन्य सुख इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयों के अधीन रहा हुआ है । इतना ही नहीं किन्तु वह कामजन्य सुख उत्सुकता रूपी दुःख से सम्मिश्रित है । कामसुख, उत्सुकता अर्थात् चले जाने का भय और व्याकुलता रूपी दुःख के प्रतिकार से उत्पन्न होता है । उत्सुकता ही जीवात्मा के लिए दुःखरूप है और उत्सुकता की निवृत्ति ही जीवात्मा के लिए सुखरूप है ।

कामजन्य सुख-दुःख में, उत्सुकता की निवृत्ति और प्रवृत्ति ही मुख्य भाग भजती है । उत्सुकता के अभाव से जन्य सुख का अनुभव, उत्सुकता वाले को नहीं होता है । इन्द्रियजन्य कामसुख कभी दुःख रहित नहीं हो सकता क्योंकि उसकी प्राप्ति, उपभोग और वियोग के समय व्याकुलता और उत्सुकता रही हुई होती है । सूजन में वृद्धि व वध्य पुरुष का श्रृंगार जिस प्रकार अधिक दुःख के लिए ही होता है, उसी प्रकार कामभोग के समय होने वाला सुख भी अधिक दुःख के लिए ही होता है ।

तीव्र अग्नि के ताप से संतप्त लोहे की तरह, जहाँ उत्सुकता रूपी अग्नि द्वारा इन्द्रियों का ताप, सुखरूपी जल का शोषण करता हो, वहाँ सुख की कल्पना करना भी केवल भ्रम ही है ।

जहाँ पहले और बाद में अरति और उत्सुकता रूपी अग्नि के स्पर्श से इन्द्रियों का समुदाय तप रहा हो, वहाँ शान्ति नहीं किन्तु

संताप ही होता है, इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं है । उस सुख के अनुभव काल में भी उसके प्रतिपक्षी कारणों के प्रति द्वेष ही रहा होता है, ऐसी स्थिति में वहाँ सुख की कल्पना करना निरर्थक ही है ।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी ने कहा है, **'कामजनित सुख भय रूपी अग्नि की भस्म है ।'**◆ क्योंकि उस सुख के पीछे चारों ओर भय फैला होता है । इन्द्रियों के सुख में आह्लाद जैसा कुछ भी नहीं है । वह तो एक कंधे पर से भार उठाकर दूसरे कंधे पर रखने स्वरूप ही है । दुःख का यह परावर्तन ही इन्द्रियजन्य आह्लाद का तत्त्व है ।

मोहनीय कर्म के उदय से चित्र-विचित्र वस्तुओं में सुख-दुःख की कल्पनाएँ होती हैं । परन्तु उस सुख-दुःख की कल्पना और मोहनीय कर्म की परतन्त्रता आत्मा पर बन्धन तुल्य ही है । उस बन्धन से जब तक आत्मा मुक्त नहीं बनती है, तब तक सच्चे सुख का आस्वाद शक्य नहीं है ।

❖ ❖ ❖

जिसके हृदय में भव का भय और मोक्ष की रुचि है, उसी के हृदय में गुण बसते हैं । गुण-बहुमानरुपी गुण के बिना सभी गुण भी अवगुण रुप ही हैं । केवलज्ञान न हो जाय तब तक संसारी जीवों में गुण-दोष रहने ही वाले हैं, परंतु दोषदृष्टि हो तो सिर्फ दोष ही दिखाई देते हैं । आराधक आत्मा को पर-दोष देखने में अंध, परदोष सुनने में बधिर और परदोष बोलने में मूक बन जाना चाहिए ।

❑ **भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मना ।**
सदा भयोज्झितं ज्ञानं सुखमेव विशिष्यते । – ज्ञानसार

29. सच्चा सुख

निर्मल आत्म-स्वरूप के लाभ से सच्चा सुख होता है । आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान-दर्शन और चारित्रमय है । इन्द्रिय आदि की सहायता बिना, आत्मा, सर्ववस्तुओं के ज्ञान और स्वरूप-रमणता रूपी सुख का अनुभव करे, यही सच्चा सुख है ।

जिस सुख के अनुभव समय दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो, शरीर और मन सम्बन्धी समस्त दुःखों का विलय हो और आधि, व्याधि व उपाधि-जन्य त्रिविध ताप का अभाव हो, वही सच्चा सुख है ।

किसी भी प्रकार का दुःख न होना, यही सच्चा सुख है । दुःखगर्भित सुख, सुख नहीं किन्तु दुःख ही है । जिस सुख की प्राप्ति के बाद विशेष सुख की तृष्णा न रहे, वही निरुपम सुख है । बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने और छोड़ने की इच्छा का जहाँ सर्वथा अभाव है, वही परम सुख है ।

साध्य की सिद्धि और प्राप्तव्य की प्राप्ति हो जाने के बाद आत्मा जिस स्थिति को प्राप्त करती है, वही सच्चा सुख है । सर्व तृष्णाओं का अन्त ही आत्मा की मुक्ति है ।

तृष्णा के अन्त के बाद किसी प्रकार की उत्सुकता नहीं रहती है । उत्सुकता की निवृत्ति के बाद नवीन प्राप्ति की इच्छा भी दूर हो जाती है, वही मुक्ति-अवस्था का निरुपम सुख है ।

इस प्रकार सर्व सुखों का मूल स्वस्थता, उद्वेग-रहितता और औत्सुक्य-रहितता ही है ।

उत्सुकता से आत्मा की स्वस्थता का नाश होता है । इस प्रकार उत्सुकता सर्व दुःखों का बीज है । उत्सुकता का बीज मोह है ।

मोह से तृष्णा और तृष्णा से उत्सुकता उत्पन्न होती है । उत्सुकता से अस्वस्थता और अस्वस्थता से दु:ख उत्पन्न होता है ।

जब मनुष्य अपने लिए अहितकर प्रवृत्ति का आरम्भ करता है, तब समझना चाहिए कि उसका मन अस्वस्थ है ।

उत्सुकता से मन अस्वस्थ बनता है । जीवात्मा को परम्परा से अहितकर मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाली उत्सुकता ही है । उत्सुकता, चित्त की स्वस्थता का नाश करती है । चित्त की स्वस्थता का नाश ही दु:ख है । उत्सुकता रहित प्रवृत्ति करना ही स्वस्थता की निशानी है । शान्ति, आनन्द और स्वस्थता आदि एक ही अर्थ के पर्यायवाची हैं ।

जगत् के बाह्य पदार्थ, विषय तथा वस्तुओं से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह क्षणिक होता है । उस आनन्द की प्राप्ति के बाद भी, आनन्द / सुख-प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है । इस कारण वह सुख, परम सुख नहीं है । मोक्ष का सुख ही परम सुख है, क्योंकि उसकी प्राप्ति के बाद किसी भी प्रकार के सुख को पाने की कामना नहीं रहती है ।

❀ ❀ ❀ ❀

नवकार के 68 अक्षर 68 तीर्थ समान हैं ।
नवकार स्मरण के साथ उसके अर्थ,
भावार्थ में मन जुड़ना चाहिए ।
ज्ञान से राग का नाश होता है ।
दर्शन से द्वेष का नाश होता है और
चारित्र से मोह का नाश होता है ।

30. सुख का सच्चा आधार

सुख के लिए आत्मा को जब अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती है, तभी उसे सच्ची स्वस्थता प्राप्त होती है। मोक्ष को छोड़कर अन्य सभी सुखों के लिए आत्मा को बाह्य-वस्तुओं की अपेक्षा रहती है। पाँचों इन्द्रियों के सुख, उनके विषयों पर अवलम्बित हैं। यदि अनुकूल विषय न मिला अथवा प्रतिकूल विषय मिल गया, तो दुःख पैदा होता है।

यद्यपि मानसिक सुख, इन्द्रिय सुख की अपेक्षा अधिक है और कुछ अधिक समय तक टिकने वाला है, फिर भी आखिर तो वह क्षणिक है। वह भी बाह्य साधन, मन व इन्द्रियों पर अवलम्बित है।

पाँच इन्द्रियों और मन से श्रुतज्ञान होता है और श्रुतज्ञान से जीव को सुख का अनुभव होता है। यदि इन्द्रियाँ निर्मल न हों और मन एकाग्र न हो तो श्रुतज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है और श्रुतज्ञान के अभाव में उस प्रकार के मानसिक सुख का अनुभव नहीं हो सकता है।

वृद्धावस्था में मन और इन्द्रियाँ निर्बल बनती हैं, उस समय श्रुतज्ञान-जनित मानसिक सुखों का भी अन्त आ जाता है।

लेखन और वक्तृत्व शक्ति से जिस सुख का अनुभव होता है, वह भी श्रुतज्ञान की सहायता से ही होता है। उसमें भी उपर्युक्त सर्व वस्तुओं की अपेक्षा और दूसरों के अनुकूल अभिप्राय की अपेक्षा बनी रहती है। सुन्दर लेख अथवा भाषण करने के बाद भी लोगों की ओर से प्रशंसा प्राप्त न हो अथवा लोगों का विरुद्ध अभिप्राय मिले तो वह लेखक के मानसिक सुख में विक्षेप पैदा कर देता है।

इस प्रकार जब सुख के लिए आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की अपेक्षा रखी जाती है, तब तक आत्मा सच्चे सुख से दूर ही रहती है । आत्मिक सुख के लिए पर पदार्थों पर निर्भर नहीं होना पड़ता है । मात्र आत्मा की स्वस्थता पर ही वह अवलम्बित है । शास्त्रकार फरमाते हैं कि-

1. 'अविक्खा अणाणंदे'– अपेक्षा ही दुःख है ।

2. 'अपेक्षाया दुःखरूपत्वात्'– अन्य की अपेक्षा दुःख रूप है ।

3. 'परस्पृहा महादुःखम्'– परस्पृहा ही महादुःख है ।

4. 'निःस्पृहत्वं महासुखम्'– निःस्पृहता ही महासुख है ।

इत्यादि वाक्यों का यही तात्पर्य है कि जब तक मनुष्य सुख के लिए पर-पदार्थों की अपेक्षा रखता है तभी तक वह महादुखी है । आत्मा को छोड़ कर सभी पर-पदार्थ, विषय तथा उसके साधन दुःखरूप हैं और इसी कारण उन पदार्थों पर आधार रखने वाली आत्माएँ दुःख को ही प्राप्त करती हैं ।

कहा भी है–**आत्मस्वरूप ही अपनी वस्तु है और परस्वरूप ही जड़ की वस्तु है । इस प्रकार चेतन और जड़ के बीच के भेद को जिसने यथार्थ जाना है, उसने समस्त ज्ञेयों को जाना है ।**

आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों की प्राप्ति से दुःख की निवृत्ति होती है, परन्तु वह निवृत्ति भी अनिवृत्ति स्वरूप ही है । क्योंकि एक दुःख की निवृत्ति के समय अन्य अनेक दुःखों की अनिवृत्ति उस समय रही हुई है ।

जगत् के बाह्य पदार्थों से जो सुख मिलता है, वह सुख भी, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति कराने वाला नहीं होने से दुःखरूप ही है । बाह्य पदार्थों से प्राप्त सुख, अतृप्तिकारक होता है । इस कारण उस सुख की प्राप्ति के बाद भी मन, अन्य सुख की प्राप्ति

के लिए तृषातुर बना रहता है । वह प्राप्त-सुख चाहे जितने समय तक टिके, फिर भी अनन्त काल की अपेक्षा के दुःख से मिश्रित ही है । परिणामस्वरूप भी कर्मबन्ध कराकर जन्मादि के अनन्त दुःख की वृद्धि कराने वाला ही होता है । कहा भी है–

जिस सुख के पीछे दुःख रहा हुआ है, वह सुख, सुख नहीं किन्तु दुःख रूप ही है ।

त्रिभुवन के सर्व पदार्थों की अभिलाषा जब सर्वथा विलीन होती है तब आत्मा की समस्त उत्सुकता दूर हो जाती है । उस उत्सुकता का अभाव होने पर प्रवृत्ति-निवृत्ति का अभाव हो जाता है । प्रवृत्ति-निवृत्ति का अभाव होने से आत्मा में, आत्मा द्वारा आत्मिक सुख का अनुभव होता है । यही शाश्वत शान्ति, परमानन्द और सच्चे सुख का अनुभव है । यह सुख उत्सुकता के नाश से उत्पन्न होता है, अतः उत्सुकता के नाश के लिए प्रयत्न करना यही एक परम पुरुषार्थ है । उस पुरुषार्थ का नाम धर्म पुरुषार्थ है । मोक्ष पुरुषार्थ, धर्म पुरुषार्थ का फल है । धर्म पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ का मूल है ।

❖ ❖ ❖

अपने प्रति का मोह अतिभयंकर है ।
हमें स्वयं के दोषों पर राग है ।
दूसरों के गुणों पर द्वेष है और
अपनी मति का मोह है ।
धन का ममत्व, संग्रह अत्यंत ही खरतनाक है,
वह ममत्व मम्मण को 7वीं नरक में ले गया ।

31. धर्म पुरुषार्थ का आदर

काम पुरुषार्थ में मलिन कामभोगों के राग का उत्कर्ष बढ़ता है जिससे विपर्यास पैदा होता है । धर्म पुरुषार्थ में इससे विपरीत होता है । धर्म पुरुषार्थ के साधन, स्वरूप, विषय और फल, ये चारों अंग विशुद्ध हैं ।

दया, दान, क्षमादि उसके कारण हैं । आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय उसका स्वरूप हैं । श्रीपंचपरमेष्ठी आदि परम तत्त्वों की भक्ति, उपासना और आज्ञापालन आदि उसका विषय हैं और उत्तम प्रकार के देवभव तथा मुक्ति के सुख आदि उसका फल है ।

ये सभी वस्तुएँ चित्तविशुद्धि के लिए रसायन हैं । विशुद्ध-चित्त से जीव पुण्यबन्ध और कर्मों की निर्जरा करता है । पुण्यबन्ध और कर्मनिर्जरा से स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।

मोक्ष की तीव्र इच्छा वाले और उत्तम लेश्या वाले सात्त्विक पुरुष ही धर्म पुरुषार्थ का आसेवन कर सकते हैं । अर्थ और काम पुरुषार्थ लोक को इष्ट होने पर भी, पापवृद्धि के जनक होने से, परोपकाररसिक पुरुष उनकी कथा का भी परित्याग करते हैं ।

परोपकाररसिक पुरुष इस लोक तथा परलोक में हितकारी तथा सभी के लिए अमृततुल्य ऐसी सुविशुद्ध धर्मकथा का ही आदर करते हैं । जिस कथा में क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, अकिंचनता तथा ब्रह्मचर्य आदि की प्रधानता है, जिसमें अनुकम्पा, भक्ति तथा सकामनिर्जरा आदि पदार्थों का विस्तृत वर्णन है, वह धर्मकथा ही उत्तम पुरुषों को आनन्द देने वाली होती है । क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि कषायों से युक्त श्रोताओं को धर्मकथा आनन्द देने वाली नहीं बनती है, इसका कारण उनकी अयोग्य प्रकृति ही है । कषाय की परिणति के कारण वे आत्माएँ परलोक सुख से सदैव पराङ्मुख होती

हैं । वे इस लोक को ही परमार्थ और परमतत्त्व रूप मानती हैं । वे अन्य जीवों के प्रति सैदव अनुकम्पा रहित होती हैं । ऐसे अधम पुरुषों को धर्मकथा रुचिकर नहीं लगती है, वे तो अर्थकथा में ही रुचि रखते हैं ।

कुछ जीव पाँचों इन्द्रियों के विषय-विष से मोहित मन वाले होते हैं । भावशत्रु समान इन्द्रियों के विषयों में ही प्रवर्तमान होते हैं । परमार्थ से अज्ञात तथा सुन्दर-असुन्दर वस्तुओं में अनिश्चित मति वाले होते हैं । मध्यम लेश्या वाले राजसी स्वभाव के होते हैं और वे कामकथा में ही आनन्द मानते हैं । कामकथा में आसक्त व्यक्तियों को धर्मकथा नहीं रुचती है । धर्मकथा उन्हीं को पसन्द आती है जो जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से उद्विग्न होते हैं, जन्मान्तर की कुशलता-अकुशलता का विचार करने वाले होते हैं । पापलेप से मुक्तप्रायः सात्त्विक मनोवृत्ति और शुभ लेश्या वाले आसन्न मुक्तिगामी आत्माओं को ही धर्मकथा रुचिकर लगती है ।

❖ ❖ ❖

अनीति के धन की प्रशंसा से भी पाप का बंध होता है । जगत् में रहे सुकृतों की अनुमोदना से महान् पुण्य का बंध होता है । सर्वजीवों के प्रति उदासीन भाव को छोड़कर मैत्री भाव को दृढ़ करना चाहिए, तभी अरिहंत की सच्ची शरणागति प्राप्त होगी । अरिहंत के साथ संबंध जोड़ना हो तो अरिहंत के मित्र ऐसे सभी जीवों के साथ मैत्री का संबंध जोड़ना चाहिए ।

32. उपदेश योग्य पुरुषार्थ

उत्तम आत्मा सिवाय अन्य पुरुषों को धर्मकथा के प्रति अनुराग पैदा नहीं हो सकता तो फिर धर्म-पुरुषार्थ के प्रति उत्साह तो कहाँ से प्रकट हो ? फिर भी अर्थ और काम-पुरुषार्थ की निस्सारता और हेयता का ज्यों-ज्यों ज्ञान होता है, त्यों-त्यों धर्म-पुरुषार्थ के प्रति आत्मा उल्लसित बनती जाती है। इस कारण जैनशासन में सर्वप्रथम उपदेश अर्थ और काम-पुरुषार्थ की असारता समझाने के लिए ही होता है।

द्रव्यदया भी भावदया गर्भित हो और सम्यग्ज्ञान में से जन्य हो, तभी प्रशंसनीय गिनी जाती है, अन्यथा मिथ्यादृष्टियों की (भावदया शून्य) द्रव्यदया भी प्रशंसनीय हो जानी चाहिए। दुःखी जीवों को सुखी करने के लिए उन्हें मार डालने की अधम मनोवृत्ति पैदा करने वाली होने से ऐसी दया को परमार्थ-मार्ग में लेश भी उत्तेजन नहीं दिया गया है।

अर्थ-काम की निस्सारता के भान से, अर्थ-काम के अनुरागरूपी विष का नाश होता है और इस प्रकार इस विष से रहित बने पुरुषों को अवस्था विशेष से सेवन किया गया अर्थ व काम पुरुषार्थ दुर्गतिदायी नहीं बनता है। परन्तु अर्थ-काम के अनुराग रूपी विष से भरी हुई आत्माओं को उस पुरुषार्थ की साधना का उपदेश देना तो खतरनाक ही है।

श्री जैनशासन में धर्म पुरुषार्थ को ही उपादेय माना गया है। धर्म पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के लिए सर्वज्ञ वचनों के अनुसार होने वाला मैत्री आदि भावों से युक्त आत्मा का शुभ प्रयत्न विशेष।

शास्त्र में कहा है–अर्थ-काम का उपदेश देना यह रोगी को कुपथ्य के उपदेश की तरह अहितकर है, सुलगते हुए घर में घी डालने जैसा है, तृषातुर को तपा हुआ ताम्ररस पिलाने जैसा है, घाव पर नमक छिड़कने जैसा है, डूबते हुए के गले में पत्थर की शिला बाँधने तुल्य है और बन्दर को मदिरापान कराने जैसा है ।

धर्म के चार प्रकार हैं–नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म और भाव धर्म । इन चारों में भी भाव धर्म ही उपादेय है । जीवात्मा को भाव धर्म की प्राप्ति मिथ्यात्व-मोहनीयादि कर्मों के क्षयोपशम से होती है । भाव धर्म आत्मस्वरूप है और आत्मस्वरूप मैत्री आदि भाव और प्रशम आदि लिंग से गम्य है । मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य की तरह शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य भी भाव धर्म को बतलाने वाले हैं । भाव धर्म के स्वरूप को समझने के लिए आत्मा, कर्म और आत्मा-कर्म के अनादि सम्बन्ध आदि को जानना आवश्यक है ।

शरणागति हेतु सर्वप्रथम दुष्कृत गर्हा और सुकृतानुमोदन जरूरी है । दृष्कृत गर्हा यह मन का स्नान है । सुकृतानुमोदन यह शुद्ध वस्त्र परिधान है । अपने स्वयं के दोष प्रति कठोर बनें और दूसरों के दोषों के प्रति सहानुभूति रखें । दूसरे में रहे छोटे से गुण की भी अनुमोदना करें । गुणों की अनुमोदना द्वारा हम सुकृत की अनुमोदना कर सकते हैं ।

33. आत्मा

आत्मा है, परलोक है और परलोक का कारण कर्म है, इस बात को तो प्रत्येक आस्तिक दर्शनकार मानता है । परन्तु उसके स्वरूप में जैनदर्शन और अन्य दर्शनों के निरूपण के बीच काफी अन्तर है । `आत्मा है'– की मान्यता के बाद, वह कैसी है ? इस सन्दर्भ में जो वर्णन स्पष्ट रूप से जैन शास्त्रों में मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं है ।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने के बाद भी जब तक उसे परिणामी (परिवर्तनशील स्वभाव वाला) न माना जाय, तब तक सुख-दुःख, पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाएँ घट नहीं सकती हैं ।

एकान्तवादी आत्मा को कूटस्थ (अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिरैकस्वभाव वाला) नित्य मानते हैं । कूटस्थ नित्यवादी के मतानुसार आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि घट नहीं सकता है । ज्ञान/इच्छादि का जीव के साथ सम्बन्ध जीव का कर्तृत्व है । सुख-दुःखादि के साथ जीव का सम्बन्ध, जीव का भोक्तृत्व है तथा अदृष्ट (कर्म) शरीर और इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध जीव का जन्म, जीवन और मरण आदि है । आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने से आत्मा के साथ ऊपर कथित एक भी सम्बन्ध घट नहीं सकता है ।

34. एकान्त नित्यपक्ष में दूषण

पूर्वावस्था के त्यागपूर्वक उत्तरावस्था की प्राप्ति ही सम्बन्ध है । कूटस्थ नित्यवादी के मत में ऐसा सम्बन्ध कैसे घट सकेगा ? सम्बन्ध के बिना सम्बन्धी में कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्म भी कैसे घट सकते हैं ? पूर्वावस्था में अप्रमाता (अज्ञानी) आत्मा उत्तरावस्था में प्रमाता (ज्ञाता) बनती है । यह बात सभी के अनुभवसिद्ध है । प्रतिक्षण ज्ञान तथा सुख दुःख की हानि-वृद्धि होती रहती है । जन्म से लेकर मरण तक अनेक अवस्थाएँ बदलती हैं । ज्ञान-इच्छादि का कर्तृत्व और सुख-दुःख आदि का भोक्तृत्व जीवात्मा को अनुभवसिद्ध है, तो फिर एकान्त नित्यपक्ष कैसे घट सकेगा ? एकान्त नित्यपक्ष में सुख-दुःख का वेदन और घट-पट आदि संवेदनों के भेद की तरह बन्ध-मोक्ष का भेद भी नहीं घट सकता ।

आत्मा को एकान्त नित्य और अपरिणामी माना जाय तो फिर आत्मा में या तो सदैव बंध रहना चाहिए अथवा सर्वथा मोक्ष ही होना चाहिए । हिंसादि पापों के विषय में करने-कराने का परिणाम (अध्यवसाय) कर्म-बन्ध का कारण है और हिंसादि की विरति का परिणाम मोक्ष का कारण है ।

सांख्यमत वाले कहते हैं कि आत्मा अकर्ता होने से पुण्य-पाप का बन्ध नहीं करती है और बन्ध का अभाव होने से मोक्ष भी नहीं होता । प्रकृति कर्ता होने से बन्ध-मोक्ष प्रकृति का ही होता है । उनका यह कथन अज्ञानजन्य ही है । बन्ध-मोक्ष यदि प्रकृति का ही होता हो तो आत्मा की सदैव एक ही समान स्थिति रहेगी । संसार और मोक्ष दोनों उसके लिए समान रहेगा तो फिर आत्मा के लिए यम-नियम आदि दुष्कर अनुष्ठानों का आसेवन करने से क्या प्रयोजन ? आत्मा को यदि बन्ध ही नहीं है तो फिर भवभ्रमण का भय रखने की भी क्या

जरूरत है ? आत्मा का यदि मोक्ष नहीं होता हो तो फिर उसे मुक्तिपद की अभिलाषा रखने और उसके लिए तपश्चर्या आदि दुष्कर अनुष्ठानों का आचरण करने की भी क्या जरूरत है ?

मोक्ष के लिए प्रयत्न आत्मा नहीं, किन्तु प्रकृति करती है, यह कहना भी प्रलाप तुल्य ही है । प्रकृति अचेतन है । अचेतन में घटादि की तरह आलोचना शक्य नहीं है और आलोचना के बिना मुक्ति के लिए अनुष्ठान भी कैसे घट सकता है ? प्रकृति की आलोचना में पुरुष प्रयोजक है–यह कहना भी व्यर्थ है । सांख्यों ने पुरुष को नित्य-एकस्वभाव वाला माना है । यदि वह बंध-मोक्ष में प्रयोजक हो तो सदा प्रयोजकत्व की आपत्ति आयेगी और उससे सर्वदा मुक्ति अथवा मुक्ति-अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा ।

पुरुषोऽविकृतात्मैव, स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनःकरोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ।।

सांख्यों का कथन है कि पुरुष अविकृत-स्वभाव वाला, स्वयं को प्रकट करने वाला तथा अचेतन है । जिस प्रकार उपाधि के सान्निध्य से स्फटिक विकृत दिखाई देता है । उसी प्रकार प्रकृति के सान्निध्य से पुरुष भी कर्ता है, वैसा दिखता है, अथवा अविकृत स्वभाव वाला चन्द्र चंद्रोपल के पयःक्षरण में कभी प्रयोजक बनता है, कभी नहीं, की तरह आत्मा भी अविकृत स्वभाव वाला होने पर भी प्रकृति की आलोचना में कभी प्रयोजक बनता है, कभी नहीं ।

उनका यह कथन भी अनुभवविरुद्ध है । स्फटिक भी उपाधि के योग से परिणामान्तर को पाता ही है । चन्द्रमा भी नित्यानित्यात्मक है । वह यदि हमेशा एक स्वभाव वाला हो तो वह चन्द्रोपल के पयःक्षरण में सदा प्रयोजक बनना चाहिए परन्तु सदा प्रयोजक नहीं बनता है, अतः उसे कभी प्रयोजक व कभी अप्रयोजक उभय स्वभाववाला मानना चाहिए ।

सांख्यदर्शनकार प्रधान अर्थात् प्रकृति को एक, अक्रिय और नित्य मानते हैं, उनके अनुसार भी बन्ध-मोक्ष नहीं घट सकते हैं । यदि प्रधान का मोक्ष मानने के लिए उसे परिणामी मानें तो उसके स्वरूप का ही नाश हो जाय और मोक्ष के समय प्रकृति का प्रकृतित्व चला जाय । फिर उसके बाद उसका स्वरूप ही क्या रहा ?

सांख्य का सिद्धान्त है कि प्रकृति का वियोग ही मोक्ष है । इस वियोग का अर्थ यदि प्रकृति का परिणामान्तर माना जाय तो प्रकृति की नित्यता नहीं रहेगी और स्वरूप भी नहीं रहेगा । इस कारण प्रकृति को भी बन्ध-मोक्ष नहीं घट सकता । एकान्त नित्यपक्ष में सबसे बड़ा दूषण तो यह है कि पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़, उभय, किसी भी जाति के परिणाम को पाने वाला न हो, किन्तु निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्वों के मिश्रण रूप क्षण-क्षण में दिखाई देने वाली विविधता जगत् में कैसे दिखे ? विश्व में दिखाई देने वाली विविधता की उपपत्ति जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत परिणामी नित्यत्ववाद अथवा नित्यानित्यत्ववाद से ही घट सकती है ।

आत्मा को सुख-दुःखवेदन, घट-पट विज्ञान और बन्ध-मोक्ष आदि प्रत्यय का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अनुभवप्रमाण के आधार पर ही आत्मा अपरिणामी (कूटस्थ) नित्य नहीं किन्तु परिणामी नित्य है– यह बात सिद्ध होती है ।

❀ ❀ ❀ ❀

परमेष्ठी के प्रति बहुमान से अपने पाप का नाश होता है,
अपने पापनाश में वे परमेष्ठी आलंबन रुप हैं ।
स्वजन, धन और यौवन में रस पड़ता है, परंतु नवकार में
रस नहीं आता है, उसमें चित्त स्थिर नहीं बनता है,
यह अपनी सबसे बड़ी कमजोरी है ।

35. एकान्त अनित्यपक्ष में दूषण

आत्मा को एकान्त अनित्य मानने वाले पक्ष में भी सुख-दुःख का भोग, विचित्र प्रकार का संवेदन और बन्ध-मोक्ष आदि कुछ भी नहीं घट सकता है । क्षणिक आत्मा क्षण मात्र रहती है, वह सुख-दुःख उभय का अनुभव कैसे कर सकती है ? अतः उसके मतानुसार सुख को भोगने वाला भिन्न और दुःख को भोगने वाला आत्मा भिन्न मानना पड़ेगा ।

लोक में जो सुख भोगता है, वही दुःख भोगने वाला है । जिसने पूर्वभव में कर्म बाँधा है, वही इस भव में कर्म को भोगता है । जो आत्मा शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दुःखों को भोगती है, वही आत्मा मोक्ष के लिए प्रयत्न कर मोक्ष प्राप्त करती है । इत्यादि प्रमाणसिद्ध प्रसिद्ध व्यवहार है । वे क्षणिक एकान्तपक्ष में कैसे घट सकते हैं ? क्षणिक एकान्तपक्ष में कर्म करने वाला अन्य, कर्म का फल भोगने वाला अन्य, मोक्ष के लिए प्रयास करने वाला अन्य और मोक्ष पाने वाला अन्य सिद्ध होता है । यदि ऐसा न मानकर कोई अन्वय माना जाय तो क्षणिकता का सिद्धान्त टिक नहीं सकता है, क्योंकि अन्वय से नित्यता की सिद्धि होती है ।

`यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान के लिए वस्तु तथा उसके दृष्टा उभय की अवस्थिति आवश्यक है । क्षणिक एकान्त पक्ष में इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान अथवा स्मरण घट नहीं सकता है ।

36. आत्मा का कर्तृत्व

आत्मा का भोक्तृत्व मानना और कर्तृत्व नहीं मानना, इससे कृतनाश और अकृतागम रूपी दोष के सिवाय अन्य भी अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ।◆ ``यह मनुष्य अपने किये हुए कर्मों को भोगता है'' इत्यादि प्रसिद्ध लोक-व्यवहार आत्मा को अकर्ता मानने के मत से घट नहीं सकता है ।

स्वभाव ही सुख-दुःख को देने वाला है, कर्म नहीं । यह कहना भी गलत है । प्रश्न होता है-स्वभाव भाव रूप है अथवा अभाव रूप ? यदि अभाव रूप हो तो अभाव तुच्छ स्वरूप होने से कुछ भी नहीं कर सकता है । यदि भाव रूप है तो नाना रूप है तो नित्य है अथवा अनित्य ? नित्य किसी का कारण नहीं बन सकता और अनित्य एक नहीं हो सकता ।

अनेक भावरूप स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त ? यदि मूर्त है तो कर्म ही है । अमूर्त वस्तु आकाश की तरह सुख-दुःख का कारण नहीं बन सकती । जीव को अनुग्रह-उपघात मूर्त पुद्गल से ही होता है ।

जीव अमूर्त होने पर भी जिस तरह सुख-दुःख का कारण बनता है, उसी प्रकार अमूर्त कर्म क्यों नहीं बने ? इसका उत्तर यह है कि संसारी जीव एकान्ततः अमूर्त नहीं है । जीव अनादि कर्म सन्तति परिणामापन्न स्वरूप होने से कथंचित् मूर्त है । मुक्त जीव केवल अमूर्त हैं, तो वे सुख-दुःख दोनों का कारण नहीं बनते हैं, केवल सुख प्रति ही कारण बनते हैं तथा सुख-दुःख का कारण स्वभाव है तो वह कार्यगत भाव है या कारणगत ? कार्यगत भाव कारण नहीं बन सकता । कारणगत भाव को कारण मानने से कर्म ही आयेगा ।

◆ Breach of the law of the conservation of moral values. The law of conservation of moral values means that there is no loss of the effect of work done and that there is no happening of events to a person, except as the result of his own work.

कुछ लोग सुख-दुःख के कारण रूप में कर्म को नहीं किन्तु नियति को मानते हैं-वह भी गलत है । नियति को एकरूप मानने से सकल कार्यों की एकरूपता हो जाएगी । विचित्ररूप मानने से उसके अन्य भेदक को मानना पड़ेगा । वह नियति है या अन्य कोई ? नियति मानने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा । दूसरा कुछ मानने से नियतिवाद का उच्छेद होगा ।

कुछ यदृच्छावादी कहते हैं कि जिस प्रकार घट आदि को स्वकृत कर्मविपाक के बिना भी घी, तेल, शराब आदि का विचित्र उपभोग होता है, उसी प्रकार प्राणियों को भी स्वकृत कर्मविपाक बिना यदृच्छा से सुख-दुःखादि घट सकेंगे । उनका यह कथन मिथ्या है । घटादि की विचित्र उपभोग्यता उसके उपभोक्ता देवदत्तादि के कर्मविपाक के सामर्थ्य से है । समान मिट्टी और समान कुम्हार से बने हुए समान स्थान और स्थिति वाले घट में भी तैल आदि विचित्र उपभोग तथा विभिन्न विनाशक हेतुओं का उपनिपात होता है, उसका कोई कारण होना चाहिए । वह कारण उस उपभोक्ता का कर्म है । अन्यथा सब का समान उपभोग और एक साथ नाश होना चाहिए ।

कुछ कालवादी कहते हैं कि विचित्र प्रकार के सुख-दुःखानुभव का कारण द्रव्यावस्था रूप अथवा समय-आवलिकादि रूप काल है । उनका यह कथन भी सत्य नहीं है । विचित्र प्रकार के सुख-दुःखानुभव का कारण एकान्त काल नहीं है, क्योंकि तुल्य काल वालों को भी सुख-दुःखानुभव की विचित्रता देखी जाती है ।

सुख-दुःखानुभव की विचित्रता का प्रधान कारण कर्म है, जबकि काल आदि उसके सहकारी कारण हैं । जिस प्रकार अंकुर का प्रधान कारण बीज है, जबकि प्रकाश आदि उसके सहकारी कारण हैं । उसी प्रकार सुख-दुःखानुभव की विचित्रता का प्रधान कारण शाता-अशातावेदनीय कर्म है-यह श्रीजिनागम का कथन है ।

अमूर्त सुख-दुःखादि का प्रधान कारण मूर्त कर्म कैसे घट सकता है ?—इस शंका को कोई स्थान नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख का अनुभव करने वाली संसारी आत्मा के साथ क्षीर-नीर न्याय से मिला हुआ कर्म कथंचित् अमूर्त है । मूर्त-मूर्त का अथवा अमूर्त-अमूर्त का प्रधान कार्य-कारण भाव घटने में कोई आपत्ति नहीं है । कर्मरूप में परिणत कार्मण वर्गणा के समूह रूप पुद्गलों का पारिणामिक भाव के साथ औदयिक भाव का भी प्रशमरतिकार ने स्वीकार किया है । इससे कर्म पुद्गल भी कथंचित् अमूर्त सिद्ध होते हैं ।❑

सुखाभिलाषी जीव दुःखदायी कर्म क्यों करता है ? ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । जिस प्रकार जानते हुए भी रोगी अपथ्य का सेवन करता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि से अभिभूत जीव दुःखफलक कर्म करता है । सुख का अभिलाषी होने पर भी जब तक जीव को सुख के उपायों का अज्ञान है, तब तक सुख के प्रतिकूल फल वाले कर्म की भी प्रवृत्ति करता है । व्याधि की निवृत्ति की इच्छा वाला रोगी, जिस प्रकार मोह से प्रतिकूल क्रिया करता है, उसी प्रकार क्रोध-लोभ आदि विकारों के अधीन बना जीव क्रोधादि के विपाकों को जानते हुए भी क्रोधादि का सेवन करता है ।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के अधीन बना जीव सुख की इच्छा रखने पर भी दुःखफलक कर्म करता है । मिथ्यात्वादि का हेतु पूर्वकृत कर्म है और मिथ्यात्व आदि से पुनः नये कर्मों का बन्ध होता है । इस प्रकार बीजांकुर की तरह अनादि कर्म की परम्परा चलती है । सभी कर्म, व्यक्तिविशेष की अपेक्षा से आदि वाले

❑ **भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः ।**
उदयपरिणामिरूपन्तु सर्वभावानुगा जीवाः ।।1।।

अर्थ : धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये चार द्रव्य पारिणामिक भाव से होते हैं । रूप अर्थात् पुद्गल-द्रव्य औदयिक और पारिणामिक भाव से होते हैं और जीव सर्वभाव वाले होते हैं ।

हैं और कर्मसन्तति की अपेक्षा से अनादि हैं । कर्म, सत्ता मात्र से फल नहीं देता है, बल्कि प्रतिनियत वीर्यविशेष से फल देता है । यदि कर्म सत्ता मात्र से फल देता हो तो सर्व कर्म, सर्व फल को दे देंगे अथवा शाता-अशाता उभय का एक साथ अनुभव हो जायेगा । अतः सत्ता मात्र से कर्म, फल नहीं देता है बल्कि प्रतिनियत स्वभाव के अधीन होकर ही नियत फल देता है । कर्म का प्रतिनियत स्वभाव, अपने सम्बन्धी जीव तथा उस जीव के शुभाशुभ परिणाम की अपेक्षा रखता है ।

कर्म के नियत स्वभाव के निर्माण में जीव का अध्यवसाय, निमित्त कारण बनता है, यही जीव का कर्तृत्व है । उस प्रतिनियत स्वभाव का परिणामी कारण कर्म है । कोई भी कार्य परिणामी तथा उससे भिन्न कारण के बिना नहीं होता है । कर्म का नियत फल अनुभव कराने में कर्म उपादान कारण है और जीववीर्य, जीवपरिणाम और जीव का अध्यवसाय निमित्त कारण हैं । युक्ति तथा जिनागमों से भी यह बात सिद्ध होती है ।

श्री जिनागम फरमाते हैं कि–**जीव णं एस जीवे एयइ, वेयइ, परिकंपइ, ताव णं एस सतट्ठिविह बंधए वा ।**

अर्थ : जब तक जीव हिलता है, चलता है और कम्पित होता है, तब तक वह सात अथवा आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है ।

क्रोध और क्षमा

क्षमाशील व्यक्ति इसलोक और परलोक, दोनों लोक में सुखी होता है । क्षमाशील व्यक्ति इस जीवन में सम्मान प्राप्त करता है और परलोक में सद्गति प्राप्ति करता है–जबकि क्रोधी व्यक्ति इस जीवन में भी दुःखी होता है और परलोक में भी दुर्गति के गर्त में डूबकर महादुःखी होता है ।

37. आत्मा का भोक्तृत्व

जीव को स्वकर्म का कर्त्ता मानने के बाद यदि कर्म का भोक्ता मानने में न आए तो कर्मवैफल्य नाम का दोष प्राप्त होता है तथा स्वसंवेदनसिद्ध शाता-अशाता के अनुभव का भी अपलाप होता है । शाता-अशाता वेदनीय आदि कर्मविपाक के अनुभव रूप जीव की विचित्र परिणति ही जीव की भोग क्रिया है ।

अचेतन कर्म प्रतिनियत फल कैसे दे सकता है ? यह प्रश्न बड़े-बड़े विद्वानों को भी चक्कर में डाल देने वाला है । उसका निर्णय नहीं होने से कुछ लोग ईश्वर आदि की कल्पना करते हैं ।

कर्म के फलदान में प्रेरक, जीवसहगत कर्म को न मानकर ईश्वर को मानने से सर्वप्रथम दृष्टहानि और अदृष्ट-परिकल्पना नामक दो दोष पैदा होते हैं ।

ईश्वर को स्वीकार करने वाले कहते हैं कि जीव, कर्म के अधीन होने से, उस अवस्था में कर्म-फल-प्रदान-प्रेरक सामर्थ्य जीव में कहाँ से आएगा ? यदि वह सामर्थ्य जीव में ही हो तो सुख की इच्छा वाला जीव दुःखफलक कर्म का अनुभव क्यों करेगा ? अतः कर्मफल देने में प्रेरक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और सम्पूर्ण न्यायी ईश्वर को ही मानना चाहिए । उसके सिवाय जीवात्मा के शुभाशुभ कर्मों के निष्पक्ष फल के वेदन की व्यवस्था घट नहीं सकती है ।

उपर्युक्त कथन करने वाले ईश्वरवादियों के सामने अनेक प्रश्न खड़े होते हैं ।

सर्वप्रथम प्रश्न खड़ा होता है कि ईश्वर कर्म का फल देने में प्रेरित क्यों होता है ? कृतकृत्य होने से किसी भी फल के उद्देश्य बिना ही प्रवृत्ति करता हो तो उसकी प्रेक्षापूर्वकारिता को हानि पहुँचती है । प्रेक्षापूर्वकारी आत्मा प्रयोजन बिना किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं

करती है । यदि फल के उद्देश्य से प्रवृत्ति करता हो तो वह किस फल के लिए करता है ?

जिस प्रकार मुनि, वणिक् और कामी क्रमशः धर्म, अर्थ और काम को लक्ष्य बनाकर प्रवृत्ति करते हैं तो वह ईश्वर इनमें से कौन से उद्देश्य से प्रवृत्ति करेगा ? ईश्वर के कृतकृत्य होने से इनमें से एक भी उद्देश्य घट नहीं सकेगा । अतः ईश्वरवादी ईश्वर का यह स्वभाव मानेंगे कि वह फलनिरपेक्ष द्वारा अपने स्वभाव से कर्म का फल देने के लिए प्रेरणा करता है । इस प्रकार ईश्वर पर निष्फल प्रवृत्ति करने अथवा अकृतकृत्यता के दोष को दूर करने के लिए ईश्वर का स्वभाव मानने में प्रमाणशून्यता का दोष आकर खड़ा हो जाता है ।

अचेतन कर्म, कर्म का नित्य फल प्रदान नहीं कर सकता है । कर्म की कर्ता आत्मा भी कर्मपरतंत्र होने से प्रेरणा का सामर्थ्य नहीं रख सकती इस प्रकार ईश्वरवादी कहते हैं, परन्तु उसमें व्यभिचार दोष आता है ।

कर्त्ता आत्मा, कर्मपरतन्त्र होते पर भी कर्म करने का सामर्थ्य रखती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मफलदान प्रेरणा में भी सामर्थ्य धारण करे, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

उसके सामने ईश्वरवादी कहते हैं कि कर्मपरतन्त्र आत्मा कर्म का कर्ता भी नहीं है । कर्म का कर्त्ता भी ईश्वर है, तो उसके सामने प्रश्न खड़ा होता है कि ज्ञानी, दयालु और वीतराग ईश्वर कभी अशुभ कर्म करेगा ? उसके उत्तर में वे कहते हैं कि कर्म तो जीव स्वयं करता है, परन्तु ईश्वर जीव को प्रेरणा करता है । ऐसा मानने पर, एक को शुभ कर्म और दूसरे को अशुभ कर्म करने की प्रेरणा देने वाले ईश्वर में रागादि अनेक दोषों की आपत्ति स्वयमेव आ जाती है ।

ईश्वर तो जीव के कर्म के अनुसार प्रेरणा करता है । ऐसा मानने में जीव का कर्तृत्व सिद्ध होता है क्योंकि जीव का शुभाशुभ कर्म

ईश्वर ने नहीं किन्तु जीव ने ही किया है । ईश्वर तो मात्र जीव के कर्माधीन होकर प्रवृत्ति करने वाला सिद्ध होता है । अतः कर्म करने में जीव के सामर्थ्य की सिद्धि की तरह प्रेरणा में भी जीव का सामर्थ्य ही सिद्ध होता है । अतः कर्मफलप्रदान में ईश्वर की कल्पना करना अनुचित ही है ।

इस प्रकार युक्तिबल और अनुभव-सामर्थ्य से आत्मा, भोक्ता सिद्ध होने पर भी यदि उसका आरोप ईश्वर पर ही करने के लिए तैयार हो तो यह उनका गाढ़ स्वदर्शनानुराग अथवा अतिशय भक्ति-तरलित-चित्तता ही सूचित करता है । इससे 'जैन' भक्तिशून्य सिद्ध नहीं होते हैं बल्कि भक्ति के आवेश में भी जैन असत् कल्पनाओं को मानने के लिए तैयार नहीं हैं । ईश्वरभक्ति में जैन, ईश्वरकर्तृत्ववादियों की अपेक्षा लेश भी न्यून नहीं हैं । उसका कारण वे प्रमाणसिद्ध ईश्वर को स्वीकार करते हैं । इस प्रमाणसिद्ध ईश्वर की भक्ति, भक्तात्मा को ईश्वरत्व प्रदान करने में समर्थ है । सम्यग्ज्ञान व श्रद्धा के बल से जैनों की यह मान्यता है ।

लोक और आगमप्रमाण से भी जीव का कर्मफल-भोक्तृत्व सिद्ध होता है । लोक में सुखी मनुष्य को देखकर कहते हैं कि-

''पुण्यवानेष यदित्थं सुखमनुभवति ।''

यह व्यक्ति पुण्यवान है, जो इस प्रकार के सुख का अनुभव करता है ।

आप्तप्रणीत जिनागम भी कहते हैं कि–

सव्वं च पएसतया भुंजइ, कम्मुणा भावओ इयरं ।

जीव सर्वकर्मों को प्रदेशतया भोगता है और अनुभव द्वारा भोगता भी है और नहीं भी भोगता है । तात्पर्य यह है कि बँधे हुए समस्त कर्मों को जीव प्रदेशतया तो अवश्य भोगता है, विपाकोदय से भोगे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

लौकिक शास्त्रों में भी कहा है–

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

अरबों कल्प द्वारा भी नहीं भोगा हुआ कर्म, क्षय नहीं होता है ।

पूर्व में बँधे हुए कर्म को विपाकोदय अथवा प्रदेशोदय द्वारा जीवात्मा को अवश्य भोगना ही पड़ता है ।

प्रश्न : किया हुआ कर्म तुरन्त फलदायी क्यों नहीं बनता है ?

उत्तर : जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु फल प्रदान करने में काल की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार कर्म भी फल प्रदान करने में काल की अपेक्षा रखता है । अनुभूत वस्तु के संस्कार जब उद्‌बुद्ध होते हैं, तब (कालान्तर में) स्मरण होता है । उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ क्रिया से आज बँधा हुआ कर्म, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव आदि योग्य सामग्री को प्राप्त कर फलदायी बनता है ।

जिस प्रकार स्मरण भी अनुभव करने वाले को ही होता है, उसी प्रकार सुख-दुःख रूप फल भी कर्म करने वाले को ही होता है, किसी दूसरे को कदापि नहीं ।

जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध होने में मुख्य कारण धर्म अथवा अधर्म प्रवृत्ति है । वीतराग जिन ने उस कर्म के मुख्य 8 और प्रतिभेद 158 बतलाए हैं । उसका विस्तृत वर्णन कर्मग्रन्थ, कम्मपयडि तथा पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है ।

प्रश्न : जिस प्रकार डोरी से अमूर्त आकाश को बाँधा नहीं जाता है, उसी प्रकार मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा कैसे बँध सकती है ?

उत्तर : मूर्त कर्म द्वारा बँधने वाली आत्मा एकान्ततः अमूर्त नहीं है किन्तु अनादि कर्मसन्तति की अपेक्षा मूर्त भी है ।

प्रश्न : मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर अनुग्रह या उपघात करने का सामर्थ्य कैसे रख सकते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार शराब, विषपान आदि ज्ञान (विज्ञान) का उपघात करते हैं और ब्राह्मी, घी आदि पदार्थ ज्ञान पर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म जीव का उपघात और साता वेदनीय कर्म जीव पर अनुग्रह करते हैं ।

38. जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिए क्षीर-नीर और लोह-अग्नि दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। शरीर उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। शरीर पर अनुग्रह होने से जीव पर अनुग्रह होता है और शरीर पर उपघात होने से जीव पर उपघात होता है। इसी प्रकार जीव के सुख में शरीर को सुख और जीव के दुःख में शरीर के दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

शरीर और जीव के लक्षण व स्वरूप आदि भिन्न होने पर भी जिस प्रकार परस्पर अभिन्नता का अनुभव होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म के लक्षण व स्वरूप भिन्न होने पर भी संसारी अवस्था में वे परस्पर मिले हुए प्रतीत होते हैं।

जैनशास्त्र में जीव के साथ लगे हुए कर्मस्कन्धों को कार्मणशरीर कहा गया है। कार्मण शरीर के सम्बन्ध से ही औदारिक शरीर उत्पन्न होते हैं। जीव की औदारिकादि शरीर के साथ जो एकता दिखाई देती है, वह कार्मणशरीर को लेकर ही होने से कार्मण शरीर और जीव की अभिन्नता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

जीव और कर्मादि का लक्षण-स्वरूप से भेद है और परस्पर-व्याप्ति व एकक्षेत्रावस्थिति की अपेक्षा अभेद होने से जैन शास्त्रकारों ने उन्हें कथंचित् भिन्न-भिन्न कहा है। इसी कारण हिंसा-अहिंसा आदि सभी वस्तुएँ जैनशासन में परमार्थ से घट सकती हैं। एकान्त भेद अथवा अभेद मानने से हिंसा-अहिंसादि की व्यवस्था उपचार से माननी पड़ती है, परमार्थ से घट नहीं सकती है।

39. जीव और शरीर का सम्बन्ध

शुभ-अशुभ ध्यान की तीव्रता के समय शरीर पर होने वाले अनुग्रह-उपघात का असर जीव पर होता दिखाई नहीं देता है, इससे जीव और शरीर के कथंचित् भेद की सिद्धि होती है ।

कायोत्सर्ग के शुभ ध्यान में लीन बने मुनि को पूजा अथवा उपसर्ग क्रमशः सुख व दुःखनिमित्तक नहीं बनता है, क्वचित् देह की आपत्ति के समय ध्यान के बल से एकान्त सुख का अनुभव होता है और तीव्र कामातुर व्यक्ति को पुष्प-चन्दन आदि सुख के साधनों की उपस्थिति में भी काम के आवेग के कारण अत्यन्त दुःख का ही अनुभव होता है ।

अनिष्ट आहार का भोजन भी तत्त्वज्ञ मुनि को सुख दे सकता है और इष्ट भोजन भी अज्ञानी / कामी जीव को दुःख दे सकता है । यह नियम आध्यात्मिक सुख-दुःख के लिए है । आधिभौतिक अथवा आधिदैविक सुख-दुःख के लिए यह नियम नहीं बाँध सकते । शरीर पर होने वाला उपघात आत्मा को दुःख देता है । इष्ट आहार से मानसिक सुख की अभिवृद्धि होती है और अनिष्ट आहार से मानसिक दुःख बढ़ता है । इस बात से शरीर और आत्मा के कंथचित् अभेद की सिद्धि होती है । इस प्रकार शरीर और आत्मा का भेदाभेद व्यावहारिक दृष्टान्त से भी सिद्ध है ।

40. जैन शासन में निर्दिष्ट साधना-मार्ग

आत्मा स्वरूप से निर्मल है, प्रकाश स्वभाव वाला है, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य वाला है, किन्तु उसका स्वरूप कर्म से आवृत है । उस आवरण के दूर होते ही आत्मा मूल स्वरूप में आ जाती है । आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करना, यही जैनदर्शन द्वारा निर्दिष्ट साधना का परम लक्ष्य है । उस अद्वितीय लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग ही आत्म-गुणों की आराधना है ।

आत्मा का मुख्य गुण ज्ञान है । उसकी आराधना ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का बहुमान, शक्ति, सेवा तथा उपासना करने से होती है । ज्ञान की आराधना करने से ज्ञानावरणीयादि क्लिष्ट कर्मों का नाश होता है । ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों की उपासना में राग-द्वेष का परिणाम अन्तरायभूत है । राग-द्वेष के अति गाढ़ परिणामों को जैनशासन में दुर्भेद्य ग्रन्थि कहा है ।

जब तक इस ग्रन्थि का भेद न हो तब तक निर्जराकारक शुभ-परिणाम उत्पन्न नहीं होता है । अपूर्वकरण के बल से ग्रन्थिभेद का अध्यवसाय प्राप्त होता है । कर्मों की अधिकांश स्थिति का क्षय कर जब जीव पल्योपम के असंख्य भाग न्यून एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति करता है, तब वह ग्रन्थि-देश को प्राप्त करता है ।

वहाँ अपूर्वकरण से उसका भेद करता है और मोक्ष में कारणभूत सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त करता है । उसके बाद वह जीव उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का बन्ध नहीं करता है । जिस प्रकार सद् औषध से रोग का नाश होने पर आरोग्य-लाभ करने वाले को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार उससे भी अधिक तात्त्विक आनन्द सम्यग्दृष्टि आत्मा को सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति के समय होता है । सम्यक्त्व के शुभपरिणाम से जीवात्मा की विचारधारा बदल जाती है । अपराधी

पर भी उस आत्मा को क्रोध नहीं आता है। देव और मनुष्य लोक के सुख को भी वह दुःखरूप मानता है। धर्मसाधना में न्यूनता रहने पर उसे बड़ा दुःख होता है। भयंकर भवसागर में प्राणी-समूह को अनेक दुःखों से पीड़ित देखकर वह अपनी शक्ति अनुसार उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता है और जिनेश्वर-निर्दिष्ट तत्त्वों को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार करता है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से शुभ परिणाम वाला जीव, अल्पकाल में भवसमुद्र को पार उतारने में जहाज तुल्य सम्यक्चारित्र को प्राप्त करता है और उससे भवसमुद्र को पार कर लेता है।

चारित्र भी आत्मा का एक शुभ परिणाम है और वह अहिंसादि क्रियाओं के आचरण से व्यक्त होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि मूल तथा पिण्ड-विशुद्धि आदि उत्तरगुणों के पालन द्वारा वह आत्मा पूर्व की अपेक्षा अधिक कर्मस्थिति का क्षय कर अनन्तज्ञान आदि गुणों को प्राप्त करती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप रत्नत्रयी का सतत सत्कारपूर्वक आसेवन करने से आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है।

अन्तरहित (अनन्त) अपार और किसी से भी लूटा न जाय ऐसा शाश्वत सुख मोक्ष में है। उस सुख के आगे संसार के तीनों लोकों के और तीनों कालों के सभी सुख तुच्छ हैं। जीव का मोक्ष है और मोक्ष में अनन्त निराबाध सुख है, इस सन्दर्भ में भी बहुत से वादविवाद तथा मतान्तर लोक में प्रचलित हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि `मोक्ष में सुख है' ऐसा कहना सत्य नहीं है। जहाँ शरीर, इन्द्रियों और विषयों का अभाव है, वहाँ सुख कैसे ? यदि मोक्ष में दुःख नहीं है, ऐसा कहते हो तो दुःख का अभाव तो मूर्च्छा में और पाषाण-स्तम्भ में भी होता है- तो उस मूर्च्छावाली या पाषाण जैसी अवस्था के लिए कौन विद्वान् प्रयत्न करेगा ? काल अनन्त है और मोक्षमार्ग सदा चालू है तो आज तक संसार का विलय क्यों नहीं हुआ ? एक स्थान में व्यापक जीव का मुक्तिस्थान अलग

कैसे हो ? यदि मुक्तिस्थान अलग हो तो भी परिमित स्थान में अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ? प्रथम संसार या मोक्ष ? यदि मुक्ति में पहले कोई न हो तो उसका प्रारम्भ कैसे हुआ ? जहाँ गीत नहीं, नृत्य नहीं, वाद्यं-यंत्र नहीं, हावभाव नहीं, श्रृंगार-विलास नहीं, मनोरंजन नहीं, हास्य-कुतूहल नहीं-ऐसे मुक्तिस्थान में जाने के बजाय जंगल का सियार बनना ज्यादा अच्छा हैं ।

जैनदर्शन कहता है कि 'मुक्ति नहीं है'–ऐसा कहने वाला भवाभिनन्दी, अभव्य अथवा जड़बुद्धि है । जिन्हें मुक्तिसुख की कामना नहीं और जो केवल भव-सुख की ही स्पृहा वाले हैं, शास्त्रकार ने उनको दुर्बुद्धिवाला अथवा बहुलसंसारी कहा है ।

शरीर, इन्द्रियों और विषयों से होने वाला सुख, सुख नहीं किन्तु दुःख का मूल ही है । व्याधि का प्रतिकूल प्रतिकार है । सच्चा सुख वह है, जिसमें इन्द्रियों की वृत्ति नहीं है । ऐसा उदार-उपशमजनित सुख महात्माओं को अनुभवसिद्ध है ।

इन्द्रियसुख पराधीन है, जबकि उपशमसुख स्वाधीन है । चन्द्र की चांदनी की तरह मुक्ति का सुख, आत्मा का स्वाभाविक सुखधाम है । मुक्ति-प्राप्ति में आत्मा सिवाय पर-पदार्थ की बात भी नहीं है । यदि प्रशमसुख की तरतमता दिखाई देती है तो उसका प्रकर्ष भी मानना चाहिए । उसी का नाम शिवसुख है । यदि दोष व आवरण की हानि दिखाई देती है तो उसका सर्वथा नाश भी मानना चाहिए । उसी का नाम परम पद है ।

जब तक शरीर और मन हैं, तभी तक दुःख को स्थान है । शरीर और मन के नाश के साथ आधि और व्याधि स्वरूप दुःख का भी नाश है । सर्वशत्रुओं के क्षय, सर्वव्याधियों के विलय, सर्वपदार्थों के संयोग और सर्वइच्छाओं की पूर्ति से जो सुख/लाभ होता है, उससे अनन्त गुणा सुख मोक्ष में रहा हुआ है ।

जीवराशि अनन्तानन्त है । अतः अनन्त जीवों का मोक्ष होने पर भी मोक्ष में जाने पर भी भव अक्षत रहता है । यदि जीवों की

संख्या को परिमित माना जाय तभी भव खाली हो सकता है अथवा मुक्तात्मा का जन्म मानना पड़े । जो सिद्ध हुए हैं और होंगे-वे निगोद के एक अंश ही हैं । समुद्र में से एक बिन्दु कम हो जाय तो भी समुद्र को क्या हानि होती है ?

शरीर प्रमाण आत्मा में ही बन्ध-मोक्ष घट सकता है । व्यापक जीव में मोक्ष की तरह भव भी नहीं घट सकता है । शरीर प्रमाण जीव, चौदहवें गुणस्थानक में योगनिरोध कर, तृतीय भाग हीन शरीर की अवगाहना कर सिद्धशिला पर जाकर बसता है और आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने से आगे नहीं जाता है । जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध-दूध में शक्कर की तरह रहे हुए हैं । रूपी का रूपी पदार्थ में मिलने से स्थान संकोच का प्रश्न खड़ा होता है, परन्तु अरूपी आत्मा के लिए वह प्रश्न ही नहीं है ।

जिस प्रकार काल अनादि है, उसी प्रकार मोक्ष भी अनादि से है । बीजांकुर की तरह अनादि भावों में पूर्वापर का विवाद नहीं हो सकता । जिसे मोक्षतत्त्व की श्रद्धा हो, उसी का मन धर्म में स्थिर रह सकता है । मुक्ति की इच्छा ही बड़ा योग है । मुक्ति की इच्छा वाले को ही अमृत-क्रिया का संयोग माना गया है ।

श्री जैनशासन में अर्थ-काम की पौद्‌गलिक वस्तुओं की साधना को नहीं, किन्तु उनके परित्याग को ही साधना-मार्ग बतलाया गया है ।

आत्मिक साधना अर्थात् आत्मगुणों की साधना । आत्मिक गुणों की सम्पूर्ण साधना सर्व कर्मों के क्षय से निष्पन्न मोक्ष के सिवाय शक्य नहीं है । इसी कारण जैनदर्शन की साधना का प्रधान लक्ष्य मोक्ष अर्थात् सर्वकर्मरहित अवस्था है । कर्मरहित अवस्था में जो सुख है, वही शाश्वत, निराबाध और सम्पूर्ण है । इसी अवस्था का दूसरा नाम सिद्धावस्था है ।

श्री जैनशासन ने मोक्ष की साधना का जो मार्ग बताया है, उसका विचार करने के पूर्व इस जगत् में मोक्ष सम्बन्धी कैसी-कैसी मान्यताएँ हैं, उन पर प्रथम विचार करना चाहिए ।

41. मोक्ष-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ

चार्वाक दर्शन तो मोक्ष जैसे पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता है । उसके सिवाय अन्य सभी दर्शनकार एक आवाज से और अन्तिम ध्येय के रूप में मोक्ष को स्वीकार करते हैं । आस्तिक दर्शनकारों का लक्ष्यस्थान मोक्ष ही है । अन्य-अन्य दर्शनकार मोक्ष का जो स्वरूप मानते हैं और उसमें कैसे-कैसे गुण-दोष रहे हुए हैं, उसे अवश्य समझना चाहिए ।

वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना और द्वेष रूप नौ गुणों का सर्वथा उच्छेद होने से आत्मा का मोक्ष होता है । मोक्ष में बुद्धि, सुख आदि गुण नहीं हैं । विशेष में वे कहते हैं कि शास्त्राभ्यास से तत्त्वज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है । मिथ्याज्ञाननाश से राग-द्वेष नष्ट होता है और रागादि दोषों के क्षय से प्रवृत्ति रुकती है । प्रवृत्ति से धर्म-अधर्म का अवरोध होता है और धर्म-अधर्म के अवरोध से जन्मादि का नाश होता है ।

जैन कहते हैं कि इन्द्रियों से उत्पन्न बुद्धि, सुख, दुःख तथा इच्छादि का मोक्ष में नाश इष्ट है, परन्तु आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि अतीन्द्रिय गुणों का भी यदि नाश माना जाय तो उस मुक्ति का क्या अर्थ है ? जिस मुक्ति में, वर्तमान में जितना ज्ञान व सुख है, वह भी न रहे तो उसका क्या अर्थ है ? सर्वथा ज्ञान और सुख रहित अवस्था अनन्तकाल के लिए प्राप्त हो, ऐसी मुक्ति पर किसी विबुध जन को आस्था कैसे रह सकती है ?

मीमांसा दर्शनकार कहते हैं कि मुक्त आत्मा सदा स्वस्वरूप में स्थिर रहती है । वह बन्धन, दुःख तथा क्लेश से रहित होती है और काम, क्रोध, मद, गर्व, लोभ और दम्भ-इन छह प्रकार की

ऊर्मियों से परे होती है । ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है और वह मोक्ष-दशा में प्रकट होता है । उस समय ब्रह्म का रूप देखकर सभी बन्धन छूट जाते हैं । बन्धन छूट जाने से मोक्ष-दशा में आत्मा, अपने में ही नित्य आनन्द का अनुभव करती है । जहाँ केवल बुद्धि पहुँच सकती है परन्तु इन्द्रियाँ नहीं, ऐसा अविनाशी सुख जहाँ रहा हुआ है, उसी का नाम मोक्ष है ।

मोक्ष-दशा का सुख अवधिरहित, अखण्ड और अत्यधिक है । उससे अधिक सुख अन्यत्र कहीं सम्भवित नहीं है । मीमांसक लोग उस प्रकार के मोक्षसुख का वर्णन दर्शाते हैं, किन्तु उस सुख की प्राप्ति का उपाय नहीं बतलाते । जैन कहते हैं कि मोक्ष में कर्मजन्य सुख का अभाव है, किन्तु स्वभावजन्य सुख विद्यमान है । अतः उस सुख की प्राप्ति के उपाय भी उसके अनुरूप चाहिए । यज्ञ-यागादि हिंसक अनुष्ठान अथवा तत्त्वज्ञानशून्य शुष्क कर्मकाण्ड आत्मा को स्वभावजन्य सुख-स्वरूप मुक्ति दिलाने में कैसे समर्थ बन सकते हैं?

विषयसुख की तरह लोग आत्मा को भी चाहते हैं, अतः आत्मा का सहज स्वभाव सुखमय है, यह बात सिद्ध होती है । उस सहज स्वभाव से उद्‌भूत आत्मिक सुख की प्राप्ति का उपाय यज्ञ-यागादि अनुष्ठान नहीं, किन्तु विषयसुख से आत्मा को विमुख बनाकर, सम्यग्दर्शन आदि आत्मगुणों की प्राप्ति में जोड़ने वाले ज्ञानादि आचारों का पालन ही है ।

सांख्य मत वाले कहते हैं कि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, किन्तु एक तीली को भी टेढ़ी करने में अशक्त है, अतः वह अकर्ता है । वह साक्षात् भोक्ता भी नहीं है । वह आत्मा, जड़ और क्रिया करने वाली प्रकृति के समाश्रित है और इसी कारण उस पर अज्ञानता का अन्धकार छाया हुआ है तथा इसी कारण सुख आदि फल प्रकृति में रहने वाले होने पर भी उनका प्रतिबिम्ब स्वयं में पड़ता है, अतः उसे अपना मान लेता है । इसी मोह के कारण प्रकृति को सुख स्वभाव वाली मानने वाली आत्मा संसार में भटकती है ।

उसे जब यह विवेक ज्ञान होता है कि प्रकृति दुःख का हेतु है, उसके साथ सम्बन्ध रखना व्यर्थ है । तब वह आत्मा प्रकृति के कर्मफल को नहीं भुगतती है और वह प्रकृति भी समझ लेती है कि इस आत्मा ने मेरी कमजोरी को जान लिया है और अब यह मेरे किये हुए कर्मफल को भोगने वाली नहीं है, तब वह दूर हट जाती है । प्रकृति की शक्ति जब कमजोर होती है, तभी आत्मा अपने मूलस्वरूप में आती है, उसी का नाम मोक्ष है । उस मोक्षदशा में सांख्य अनन्त चैतन्य मानते हैं परन्तु अनन्त आनन्द नहीं मानते हैं क्योंकि उनके मतानुसार आनन्द पुरुष का नहीं किन्तु प्रकृति का धर्म है ।

जैन, सांख्य को पूछते हैं कि यदि ज्ञान के साथ आत्मा का नहीं, किन्तु प्रकृति का सम्बन्ध है, तो तुम्हारे मत से आत्मा अज्ञानी सिद्ध होती है । तो फिर जिस अज्ञान के कारण संसारी आत्मा प्रकृति में रहे सुख को अपना मानती है तो उसी अज्ञान के कारण मुक्तात्मा भी प्रकृति में रहे सुख-दुःख आदि फल को अपना क्यों नहीं मानती है ? उस आपत्ति से बचने के लिए मोक्ष में चैतन्य की तरह अनन्त ज्ञान भी मानना ही पड़ेगा, अन्यथा उभयत्र समान अज्ञान अवस्था मानने से तुम्हारी मुक्ति में कोई विशेषता नहीं रहेगी ।

बौद्ध दर्शनकार कहते हैं कि जो मनुष्य आत्मा को स्थिर और नित्य मानते हैं, उन्हें आत्मा पर स्नेह होता है । उस स्नेह को लेकर भोगों में आसक्ति होती है और उससे संसार बढ़ता है । `आत्मा है' ऐसा जानने से ही `मैं' और `दूसरा' ऐसी स्व-पर की भावना होती है । स्व-पर की भावना ही राग-द्वेष का मूल है । राग-द्वेष समस्त दोषों का मूल है । अतः शरीर, स्वजन, स्त्री, पुत्र आदि सभी को अनात्मक, अनित्य, अस्थिर, अशुद्ध और दुःखरूप मानना चाहिए । इससे राग की वृद्धि रुक जाती है । इस भावना के विशेष अभ्यास से वैराग्य बढ़ता है । वैराग्य से आस्त्रव का निरोध होता है और परिणामतः मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

जैनदर्शन कहता है कि आत्मा पर स्नेह से होने वाली सभी प्रवृत्ति आत्मा के लिए क्लेशकारक है, ऐसा कहना गलत है । आत्मा के स्नेह से दुःखमिश्रित विषय-सुखों में प्रवृत्ति होती है । वह रोगी को कुपथ्य की तरह अवश्य कष्टकारी बनती है, परन्तु उसी आत्मस्नेह से, समझदार व्यक्ति अपथ्य त्याग रूप अतात्त्विक सुख के साधनभूत स्त्री आदि का त्याग कर तथा परमार्थ सुख के उपायभूत सम्यग्दर्शन आदि की साधना में प्रवृत्ति कर आत्मा को एकान्त फायदा ही करता है । परन्तु तुम्हारी तरह नित्य आत्मा के लिए अनित्यपने की भावना करना मृषा भावना ही है ।

ऐसी मिथ्या भावना करने से आत्मा मृषावादी और मायाचारी बनती है । उस भावना को करने वाला भी कोई स्थिर आत्मा तो होना चाहिए न ? अस्थिर आत्मा, अनित्यपने की सतत भावना कैसे कर सकता है ? पूर्व में जो बँधा हुआ हो वही मुक्त हो सकता है, इस कारण भी एक स्थिर आत्मा को मानना चाहिए ।

क्षणिकवाद में जानने वाला कोई और होता है और फल भोगने वाला कोई और ही होता है । दो की लड़ाई में तीसरा लाभ उठा जाय, ऐसी विचित्र स्थिति खड़ी होती है ।

वस्तु मात्र क्षणविनाशी हो तो उस क्षण के बाद स्वतः नाश पाने वाले रागादि के नाश के लिए अलग प्रयत्न करने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? अतः उस प्रयत्न को करने वाली आत्मा स्थिर है, ऐसा मानना चाहिए । उस आत्मा की अहिंसा प्रधान तप के आचरण द्वारा मुक्ति हो सकती है । अनित्यता की भावना करने वाली आत्मा स्थिर रहने वाली ज्ञानधारा के द्वारा अनेक प्रकार के तप-अनुष्ठान कर मुक्ति प्राप्त कर सकती है और वह मोक्ष अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनन्त सुखमय है ।

जैन मान्यतानुसार उपचय-अपचय को प्राप्त पदार्थ-सामग्री के

सद्भाव में सर्वप्रकार से नाश भी होते ही हैं । रागादि दोष-समूह का हानि-लाभ सभी मनुष्यों के लिए प्रत्यक्ष है । मनुष्य में राग-द्वेष की न्यूनाधिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती है । वह हेतु बिना सम्भवित नहीं है । जिस हेतु से हानि-वृद्धि होने वाली चीज घटती है, उस हेतु की पूर्ण सामग्री प्राप्त होने पर उसका समूल नाश भी होता है । सूर्य की मन्द किरणों से हल्की ठण्डी दूर होती है तो उसके प्रखर ताप से प्रबल ठण्डी भी नष्ट होती ही है, इसी न्याय से शुभ भावनाओं के बल से राग-द्वेष की थोड़ी हानि देखी जाती है तो उन भावनाओं के प्रकर्ष से सम्पूर्ण राग-द्वेष रूपी दोषों का क्षय हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । राग-द्वेष के क्षय से अनादि कर्ममल का आत्यन्तिक नाश होता है, क्योंकि कर्ममल को पैदा करने वाले और बढ़ाने वाले राग-द्वेष ही हैं । कर्ममल के सर्वथा विनाश का नाम ही मोक्ष है ।

राग-द्वेष और कर्ममल के क्षय से आत्मा में अनन्त ज्ञान प्रकट होता है । जिस प्रकार परिणाम का अतिशय उत्कर्ष आकाश में विश्राम पाता है, उसी प्रकार बुद्धि के अतिशय उत्कर्ष की भी विश्रान्ति होनी चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता देखी जाती है, इतना ही नहीं एक ही व्यक्ति की ज्ञानमात्रा में भी परिवर्तन होता ही रहता है । थोड़े आवरण के क्षय से थोड़ा ज्ञान प्रकट होता है तो सम्पूर्ण आवरण के क्षय से सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट हो, इसमें क्या आश्चर्य है !

जिस प्रकार बढ़ती हुई चौड़ाई का अन्त आकाश में आता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए ज्ञान का अन्त सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में आता है । सर्वकर्ममल का क्षय होने से मोक्ष में सर्वज्ञता सदैव रहती है । ऐसे अनन्त ज्ञान और सुखमय मोक्ष के लिए प्रयत्न करने हेतु जैनदर्शन का उपदेश है ।

42. मोक्ष का सुख

मोक्ष का सुख शाश्वत, निराबाध और सम्पूर्ण है । उसके निम्नलिखित मुख्य कारण हैं—[1]

(1) सिद्धात्मा सर्वथा राग-द्वेष और मोहरहित होते हैं । जीव की ये (रागादि) प्रकृतियाँ परम संक्लेश रूप हैं ।

राग से अभिष्वंग पैदा होता है ।[2]

द्वेष से अप्रीति उत्पन्न होती है[3] और

मोह से कार्याकार्य का विवेक नष्ट होता है, अज्ञान बढ़ता है ।[4]

अभिष्वंग, अप्रीति और अज्ञान, ये तीनों चित्त के अतिसंक्लिष्ट दुष्ट अध्यवसाय हैं । संक्लिष्ट कर्म के कारणभूत हैं और परम्परा से संक्लेश को बढ़ाते हैं । रागादि संक्लिष्ट अध्यवसायों से अभिभूत आत्माओं को इस संसार में क्षण भर भी सुख नहीं है । इन दुष्ट अध्यवसायों के पराधीन आत्माएँ, इस संसार-सागर में नये-नये क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन कर जन्म-मरण के अपार दुःखों का अनुभव करती हैं । रागादि के अभाव में जीवात्मा को जो संक्लेशरहित सुख होता है, वही वास्तविक सुख है । इस सुख को रागादि से रहित आत्माएँ ही

---

1. The teaching and lives of liberated souls prove the possibility of liberation and show also the path to be followed for the purpose. Three things are necessary for liberation. They are the perfect faith in the teachings of the omniscient teachers, correct knowledge of their teachings and right conduct. Right conduct consists in practice of abstinence from all injury of life, from falsehood, from stealing, from sensuality and from attachment to sensual objects. By the joint culture of right faith, right knowledge and right conduct, the passions are controlled and the karmas that fetter the soul to matter are removed. The obstacles being removed, the soul attains natural perfection. i.e. infinite knowledge, infinite power and infinite bliss. This is the final state of the soul in liberation according to Jain scriptures.

2. अविषयेऽभिष्वंगकरणाद्रागः ।

3. तत्रैव अग्निज्वालाकल्पमात्सर्यापादनाद् द्वेषः ।

4. हेयेतरभावाधिगमप्रतिबन्धविधानान्मोहः ।

जान सकती हैं। सन्निपात से गृहीत आत्माएँ सन्निपात के अभाव में होने वाले सुख को जान नहीं सकती हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष और मोह के पराधीन आत्मा रागादि रहित अवस्था के सुख को नहीं जान सकती है।

(2) सिद्ध जीवों के जन्मादि का अभाव है, अतः उनका सुख अव्याबाध है। बीज जल जाने के बाद जिस प्रकार अंकुर प्रकट नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जल जाने के कारण सिद्धात्माओं को जन्मरूपी अंकुर प्रकट नहीं होता है। यहाँ जन्म-जरा-मृत्यु-भय आदि सबका अभाव है।

(3) सिद्धों का सुख अव्याबाध है। उसका तीसरा कारण यह है कि सिद्ध जीवों को सदाकाल के लिए उत्सुकता की निवृत्ति है। संसार के सुखों का अनुभव भी जीवों को उत्सुकता और अभिलाषा की निवृत्ति से ही होता है। परन्तु इन्द्रिय-विषयों के भोगसमय होने वाली उत्सुकता की निवृत्ति स्वल्पकाल के लिए होती है। इतना ही नहीं परन्तु एक निवृत्ति अन्य विषय की अभिलाषा और उत्सुकता को पैदा कर ही जाती है और उस उत्सुकता की परम्परा जब तक निवृत्त नहीं होती है, तब तक दुःख कायम रहता है।

सिद्ध जीवों को वह निवृत्ति सर्वकाल के लिए होती है। सर्वकाल के लिए सर्व इच्छाओं की निवृत्ति ही सिद्धपना है। इस कारण उनका सुख सर्वसंसारी जीवों के सर्व सुखों की अपेक्षा अनन्तगुणा है। इस प्रकार अनुभव, युक्ति और आगम से सिद्धों का अनन्त सुख प्रमाणसिद्ध होता है। उस सुख की तुलना की जा सके ऐसा सुख त्रिभुवन में नहीं होने से उसका यथार्थ कथन किसी उपमा के द्वारा नहीं हो सकता। सर्वज्ञ भगवन्त भी वाणी के द्वारा उस सुख का यथावत् वर्णन नहीं कर पाते हैं। इतने मात्र से उस सुख का जगत् में अभाव है, ऐसा मानना मिथ्या ही है।

मोक्षसुख का वर्णन अशक्य

सर्वजीवों को अनुभवगम्य वैषयिक सुख का भी कथन अन्य के सामने शक्य नहीं है तो फिर सिद्धात्मा का परोक्ष आत्मिक सुख वाणी से अवाच्य हो, इससें क्या आश्चर्य है ? कहा भी है–``जिस प्रकार कुमारिका स्त्री

सुख को नहीं जानती है, अथवा अन्य पुरुष घट को नहीं जान सकता, इसी प्रकार स्व-संवेद्य ब्रह्म को, अब्रह्म-आत्मा नहीं जान सकती ।''

इस प्रकार मोक्ष का जो सुख है, उसे सिद्ध भगवन्त ही जानते हैं, क्योंकि उसका अनुभव उन्हीं को है । उस सुख को नहीं पाई हुई आत्माओं को उसका अनुभव नहीं है, अतः वे उसे कैसे जान और कह सकती हैं ? कहा भी है–

जाणे पण न कही पुर गुण प्राकृत तिम गुण जास,
उपमा विण नाणी भवमांहि, ते सिद्ध दिओ उल्लास रे,
भविका ! सिद्धचक्र पद वंदो ।

–उपा. श्री यशोविजयजी गणि

संसार में जितने भी सुख हैं, वे सब अन्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हैं । असंयोगी सुख संसार में नहीं है, वह केवल मोक्ष में है । अतः उसकी उपमा भी जगत् में अप्राप्त है । ऐसे निरुपम सुखनिधान रूप मोक्ष की प्राप्ति ही सच्ची आत्मसाधना है और उसी का नाम जैनसाधना है ।

कुछ लोग कहते हैं कि जीव का मोक्ष है परन्तु वह जब होने वाला होता है, तभी मिलता है । उसके पहले अनेक उपाय करने पर भी प्राप्त नहीं होता है ।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र से मोक्ष मिलता है तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किससे मिलेंगे ? **गुण बिना जैसे गुण मिलते हैं वैसे गुण बिना मोक्ष क्यों न मिले ?**

मरुदेवा चारित्र के बिना मोक्ष में नहीं गये ?

भरत को आरिसा भवन में केवलज्ञान नहीं हुआ ?

कुछ अल्पकष्ट में मोक्ष पाते हैं और कई अधिक कष्ट में मोक्ष पाते हैं । उसका कारण उन जीवों की नियति-भवितव्यता ही है । प्रथम दृष्ट भावों में कुछ भी हानि-वृद्धि नहीं हो सकती । व्यर्थ कायकष्ट सहने से क्या फायदा ? क्रियाकष्ट केवल लोकरंजन के लिए है, अतः निरर्थक है ।

जैनदर्शन कहता है कि मोक्ष का स्वीकार करने के बाद उसके कारणों की अवगणना करना उचित नहीं है ।

कार्य है और कारण नहीं है, ऐसा कहना क्या सत्य है ?

यदि सर्जित के अनुसार ही बन्ध होता है तो दुश्मन पर रोष, मित्र पर प्रेम, स्त्री पर राग और व्यभिचारी पर गुस्सा क्यों आता है ? यदि निर्णीत और भाग्यानुसार ही होता हो तो घड़ा बनाने के लिए दण्ड और रसोई के लिए अग्नि की क्या जरूरत है ? जो निर्णीत है, वही होगा, ऐसा मानने वाले भोजनक्रिया बन्द क्यों नहीं करते हैं ? पाप में उद्यम को आगे करना और धर्म में नियतिवाद को आगे करना, केवल उन्मत्तता ही है।

गुण बिना जो पूर्व में गुण की प्राप्ति होती है, उसमें भवस्थिति की दया है। फल का पाक दो तरह से होता है-एक उपाय से और दूसरा काल से। इस प्रकार कर्म का पाक भी दो तरह से होता है, उसमें क्या हानि है ? अथवा पहले गुण की प्राप्ति गुण बिना हो उसका कारण पूर्व सेवा मृदुतर होती है, अतः सरलता से हो सकती है, परन्तु उत्तर सेवा सरल नहीं होती है। उसमें अनेक कष्ट और अनिष्ट रहे हुए हैं।

ज्ञानपूर्वक जो कष्ट सहन किया जाता है, उसे तप कहते हैं। उसे अशुभ कर्म का उदय नहीं मान सकते। ज्यादा ईंधन को जलने में अधिक समय लगता है और कम ईंधन हो तो कम समय लगता है। जिस प्रकार अग्नि में अभंग दाहक शक्ति है, उसी प्रकार मोक्ष के कारणों में कर्म-दहन की अखण्ड शक्ति रही हुई है। दण्डादि के बिना जिस तरह घट नहीं बनता है, फिर भी मिट्टी के भेद से घट का भेद हो जाता है, उसी प्रकार जीवदल के भेद से फल में भेद पड़ता है।

व्रतादि के पालन के बिना कभी किसी का मोक्ष नहीं होता है। व्रतपालन के बाद भी यदि किसी की सिद्धि नहीं होती हो तो भी व्रतादि से विराम पाना उचित नहीं है। फल में सन्देह होने पर भी क्या किसान बीज नहीं बोता है ? अतः मुक्ति के हेतुभूत ज्ञानादि गुणों में लेश भी सन्देह नहीं रखना चाहिए। जीव है, वह नित्य है, जीव ऊपर कर्म हैं, जीव कर्म का कर्ता है, जीव का मोक्ष है और मोक्ष का मार्ग भी है। इन छह वस्तुओं पर की अखण्ड श्रद्धा को ही जैनशासन में सम्यक्त्व कहा है। यह सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है,

सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र को ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में स्वीकारा गया है ।

कहा भी है कि–

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग बनता है ।

चार पुरुषार्थों में धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ की श्रेष्ठता

पुमर्था इह चत्वारः, कामार्थौ तत्र जन्मिनाम् ।
अर्थभूतौ नामधेयावनर्थौ परमार्थतः ।।1।।

अर्थ : इस जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं । उसमें काम और अर्थ ये दो पुरुषार्थ तो प्राणियों के लिए नाम मात्र के ही पुरुषार्थ हैं । परमार्थ से वे अनर्थ रूप हैं ।

अर्थस्तु मोक्ष एवैको, धर्मस्तस्य च कारणम् ।
संयममादिर्दशविधः, संसाराम्भोधितारणम् ।।2।।

अर्थ : चार पुरुषार्थों में वास्तव में परमार्थ रूप एक मोक्ष पुरुषार्थ ही है और उसका कारण धर्म है । वह धर्म संयम आदि दस प्रकार का है और संसार सागर से तारने वाला है ।

अनन्तदुःखः संसारो, मोक्षोऽनन्तसुखः पुनः ।
तयोस्त्यागपरिप्राप्ति-हेतुर्धर्म विना न हि ।।3।।

अर्थ : संसार अनन्त दुःख रूप है और मोक्ष अनन्त सुख रूप है । अतः संसार के त्याग और मोक्ष की प्राप्ति का हेतु धर्म बिना कोई नहीं है ।

मार्गं श्रितो यथा दूरं, क्रमात् पंगुरपि व्रजेत् ।
धर्मस्थो घनकर्मापि, तथा मोक्षमवाप्नुयात् ।।4।।

अर्थ : जिस प्रकार पंगु व्यक्ति भी वाहन का आश्रय कर दूर पहुँच सकता है, उसी प्रकार अत्यधिक कर्म से भारी बना हुआ भी धर्म के आश्रय से मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

(त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व 10-सर्ग 13)

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 237 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	38.	गणधर-संवाद	80/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	39.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	40.	नवपद आराधना	80/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	41.	संस्मरण	50/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	42.	भव आलोचना	10/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	43.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	44.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	45.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
9.	विविध-तपमाला	100/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
10.	विवेकी बनो	90/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
11.	प्रवचन-वर्षा	60/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
12.	आओ श्रावक बनें !	25/-	49.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
13.	व्यसन-मुक्ति	100/-	50.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
14.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	51.	नमस्कार मीमांसा	150/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
18.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
19.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
20.	समाधि मृत्यु	80/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
21.	Pearls of Preaching	60/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
22.	New Message for a New Day	600/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
23.	Celibacy	70/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
24.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
25.	अमृत रस का प्याला	300/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
26.	ध्यान साधना	40/-	63.	जीवन झांकी	अमूल्य
27.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	64.	मन के जीते जीत है	80/-
28.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
29.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
30.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
31.	जीव विचार विवेचन	100/-	68.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
32.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	69.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
33.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	70.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
34.	लघु संग्रहणी	140/-	71.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
35.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	72.	वैराग्य-शतक	140/-
36.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-	73.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
37.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-			

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299